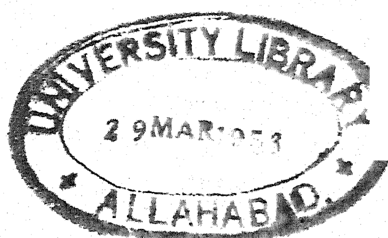
मनोविश्लेषण और उसके जन्मदाता

सन्तोष गार्गी
परितोष गार्गी



प्रगति प्रकाशन
नयी दिल्ली

१६५१

प्रकाशक
प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, १४-डी० फ़ीरोज़शाह रोड, नयी दिल्ली
मुद्रक
गोपीनाथ सेठ, नवीन प्रेस, दिल्ली

मूल्य दो रुपये

दो शब्द

फ्रायड के विषय में अन्यान्य पश्चिमी भाषाओं में बहुत-कुछ लिखा जा चुका है। उनके मुख्य सिद्धान्त योरोप की विविध भाषाओं में अनूदित हो चुके हैं। परन्तु भारतीय भाषाओं में विशेषकर हिन्दी में उनके विषय में हमें एक भी पुस्तक दिखाई नहीं देती।

वैज्ञानिक क्षेत्र में फ्रायड की महत्ता डार्विन, न्यूटन और आईन्स्टाईन से कुछ कम नहीं। वे युग-प्रवर्तक थे। उन्होंने ऐसे गुह्य मानसिक क्षेत्रों की सत्ता प्रमाणित की जिनका हमें आज तक ज्ञान भी न था। उनके धर्म, आचार, साहित्य, कला, स्वप्न, विवाह, बाल-शिक्षा, न्याय और दण्ड तथा अन्य सामाजिक विषयों की व्याख्या तथा विश्लेषण ने हमें एक सर्वथा नये दृष्टिकोण का दिग्दर्शन करवाया और हमारे मन में हीन-से-हीन के प्रति सहृदयता तथा स्नेह का संचार किया। जिन लोगों ने उनके सिद्धान्तों को पूरी तरह समझे बिना ही उन पर नाना आरोप लगाकर उनकी अवहेलना की उन्होंने अपनी हानि की है और उनके प्रति अन्याय किया है।

ऐसे महान व्यक्ति के विचारों का हिन्दी में अभाव हमें अख-

रता रहा है और यह पुस्तक उसी अभाव की पूर्ति के पथ पर एक छोटा-सा प्रयास है। हमने कुछ मुख्य विषयों पर संक्षेप में उनके विचार प्रकट करने का प्रयत्न किया है। यदि इससे हिन्दी पाठकों को फ्रायड के मूल सिद्धान्तों के विषय में कुछ परिचय मिल सके तो हम अपना यह प्रयास सफल समझेंगे।

संतोष, परितोष

विषय-सूची

सिगमण्ड फ्रायड की जीवनी

पारिवारिक जीवन :

सिगमण्ड फ्रायड का मानसिक जीवन जितना ही घटनापूर्ण तथा अन्वेषणयुक्त रहा, वास्तविक जीवन उतना ही सहज स्वाभाविक तथा घटना रहित बीता। इनका जन्म ६ मई, १८५६ को जैकोस्लाविकिया के मोरेविया-प्रांत के फ्रेबर्ग नामक, एक छोटे से कस्बे में एक यहूदी घर में हुआ।

इनके पिता का नाम जेकब फ्रायड, और माता का एमिलिया नेथनज़ फ्रायड था, जो जेकब की दूसरी पत्नी थी। फ्रायड के जन्म के समय इनकी माता की आयु लगभग २१ वर्ष और पिता की ४१ वर्ष की थी। ये अपनी माता की प्रथम संतान थे। यद्यपि पिता के पहले विवाह से एक पुत्र था, जिसका नाम इमैनुअल फ्रायड था। इमैनुअल का विवाह फ्रायड के जन्म से पूर्व ही हो चुका था, यहाँ तक कि इनके जन्म से पूर्व, उनके दो बच्चे भी थे।

जन्म के समय इनका समस्त शरीर काले-काले बालों से भरा था, जिसे इनकी माता एक अद्वितीय चिह्न समझती थीं और विश्वासपूर्ण कहा करती थीं कि यह एक असाधारण व्यक्ति प्रमाणित होगा। बचपन में वे प्यार से इन्हें 'मेरा नन्हा हब्शी' कहकर

पुकारती थीं। माता के इस दृढ़ विश्वास का फ्रायड के भावी जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। वे बड़े होकर कई बार कहा करते थे कि जो व्यक्ति माता का एकमात्र प्रेमपात्र रहा हो, वह आजीवन विजय की भावनाएँ रखता है और उसका अपनी सफलता में विश्वास ही बहुत बार वास्तविक सफलता का कारण होता है जैसा कि आगामी जीवन में अपनी सातवीं वर्षगांठ पर अतीत का पुनरवलोकन करते समय उन्होंने कहा कि "मैं फ़रेबर्ग का स्वस्थ बालक व युवती माता की प्रथम सन्तान हूँ।"

फ्रायड के पिता जेकब फ्रायड की कपड़ा बुनने की खड्डियाँ थीं, जिनकी आय से वे कठिनता से परिवार का पालन करते थे। जेकब साधारण मध्यम श्रेणी के व्यक्ति थे। जिन्हें आजीवन आर्थिक क्षेत्र में संघर्ष करना पड़ा। जीवन के निरन्तर संघर्ष से उनमें एक अनमनापन-सा आ गया था। परन्तु वे अपने पारिवारिक जीवन में बहुत कठोर तथा शासक प्रकृति के थे और परिवार में कोई उनकी आज्ञा-उल्लंघन का साहस न रखता था। वे न्यायशील, बुद्धिमान तथा कट्टर यहूदी थे। वे अपने पूर्वजों के धर्माचार को निभाना अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य समझते थे। जितने ही इनके पिता कठोर थे, उतनी ही माता मृदुल तथा स्नेहशील थीं, वे फ्रायड की प्रत्येक इच्छा पूर्ण करने का प्रयत्न करती थीं।

फ्रायड का सर्व-प्रथम साथी उनके सौतेले भाई इमैनुअल का बड़ा लड़का जॉन था। जॉन और सिगमण्ड परस्पर बहुत प्यार करते परन्तु जॉन बड़ा होने के कारण अवसर पा कई बार उन्हें मार-

पीट देता था। जॉन के साथ इनका अपने पिता के समान ही द्विधायुक्त सम्बन्ध था—ये जॉन से प्रेम भी करते थे और डरते भी थे, उससे मित्रता भी थी और शत्रुता भी। पिता और बालपन के साथी के प्रति ये द्विधायुक्त भाव उनके मानसिक जीवन का अनिवार्य अंग बन गए। बड़े होकर अपने शैशवकाल का पुनरवलोकन करने पर वे बार-बार कहा करते थे कि जॉन के प्रति उनके द्विधायुक्त सम्बन्ध ने उनकी मानसिक जीवनधारा को बहुत प्रभावित किया। वे प्रायः कहा करते थे कि "अपने प्रियजनों के प्रति दुर्भावनाएँ और विरोधियों से आत्म-रक्षा शक्ति, दोनों का ही अचेतन स्रोत मेरी अपने भतीजे जॉन से शैशवकालीन सम्बन्ध की भावनाओं का रूपान्तर है।"

फ्रायड परिवार का देश परिवर्तन :

फ्रायड अभी तीन वर्ष के ही थे जबकि सारे यूरोप में एक आर्थिक क्रान्ति की लहर दौड़ गई। छोटे-छोटे कारखानों का स्थान बड़े-बड़े कारखानों ने ले लिया। राज्य-क्रान्ति से बचे हुए यहूदियों को इस आर्थिक क्रान्ति से बचना और भी कठिन दिखाई देने लगा। छोटी-छोटी खड्डियों पर काम करने वाले ज़ैच तथा जर्मनों ने अपने आर्थिक संकट का उत्तरदायित्व यहूदियों पर लादना आरम्भ कर दिया, जिससे उनका इस छोटे-से फरेबर्ग में रहना कठिन हो गया। फ्रायड परिवार के लिए भी जीविका तथा मान की क्षतिपूर्ति के लिए कोई

स्थान न रहा, अतः सारा परिवार फरेबर्ग छोड़ने के लिए विवश हो गया। आर्थिक क्षेत्र की संकीर्णता, स्वतन्त्रता अथवा भोजन की कमी ही सर्वदा देश-परिवर्तन का कारण होती हैं। जेकब फ्रायड के पूर्वज भी सदियों से देश-परिवर्तन करते आ रहे थे और अब पूर्वजों के पद-चिन्हों में वे भी परिवार सहित फरेबर्ग छोड़ वियेना आ गए। बड़े होने पर फ्रायड के स्मृति-पटल पर इस काल के कोई चित्र शेष न रहे। इस काल के विषय में वे कहा करते थे, "वे संकट के दिन थे, जिन्हें भूलना ही अच्छा है।"

वियेना में :

वियेना में यहूदियों के विरुद्ध, फरेबर्ग से भी अधिक भेद-भाव तथा विरोध-भावनाएं थीं। घेटो की नाईं वियेना का एक भाग यहूदियों के लिए अलग ही नियुक्त था, जहाँ धीरे-धीरे यहूदियों के अपने ही स्कूल, कालिज, बाग, पूजास्थान तथा कब्रिस्तान आदि बन गए।

फ्रायड परिवार के लिए वियेना में भी जीवन कोई सुगम न था। यहाँ भी जेकब को व्यापार में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। मकान फरेबर्ग से कहीं गन्दा और तंग मिला। फिर भी किसी-न-किसी तरह वे जीवन-निर्वाह करने लगे।

समय बीतता गया। चौदह वर्ष के वैवाहिक जीवन में जेकब और एमिलिया के सात बच्चे हुए, जिनमें दो लड़के थे और पाँच लड़कियाँ। इतने बड़े विस्तृत परिवार के लिए उस छोटे-से तंग मकान में रहना कठिन हो गया, इसलिए उन्होंने उस मकान के

समीप ही एक छः कमरों वाला बड़ा मकान किराये पर ले लिया, जिसमें फ्रायड को एक अलग कमरा मिल गया।

फ्रायड एकान्त-प्रिय प्रकृति के थे और उन्हें शांत वातावरण में पढ़ने का अभ्यास था। प्रायः वे घर के कोलाहल के वातावरण से दूर रहते। युवावस्था तक तो खाना भी परिवार के साथ न खा अपने ही कमरे में खाते थे। उनका अधिक समय पढ़ने-लिखने और वाद-विवाद में ही व्यतीत होता था। जंगलों में भ्रमण करना और नये फूल पौधों को खोजना उनके सबसे बड़े प्रमोद थे।

बाल्यकाल में फ्रायड की कल्पनाओं के केन्द्र—कार्थीजीनियन वीर सेनापति हेनेबाल थे; जिन्होंने रोम को मिटाये बिना सांस न लेने की शपथ ली थी और काफ़ी हद तक वे अपने ध्येय में सफल भी हुए। फ्रायड लिखते हैं, "हेनेबाल और रोम मेरे यौवन की कल्पनाओं में यहूदियों की दृढ़ता तथा केथोलिक चर्च के चिह्न बन गए थे। ...उस सैनिक आदर्श का विकास मेरी तीन वर्ष की अवस्था की उन भावनाओं तक खोजा जा सकता है, जो शारीरिक क्षीणता के कारण, मेरे मन में एक वर्ष बड़े मेरे साथी के प्रति द्वेष सम्बन्ध से उत्पन्न होती होंगी।"

अभी तक योद्धा, युद्ध और विजयाकांक्षा ही फ्रायड की कल्पनाओं के केन्द्र बने हुए थे। एक बार उनके पिता उन्हें किस्सा-कहानी सुनाते-सुनाते बोले, "सिगी, अब तो यहूदियों के लिए समय उपयुक्त है। जब मैं नवयुवक था—तो एक दिन शनिवार को मैं फरेबर्ग की एक गली में घूम-फिर रहा था। उस दिन मैंने नये कपड़े और

सिर पर एक फ़र वाली टोपी पहन रखी थी। इतने में मुझे एक ईसाई दिखाई दिया—उसने मेरे समीप आते ही मेरी टोपी उतार, कीचड़ में उछालकर फैंक दी और चीख-चीखकर बोला, "ओ यहूदी! एक किनारे होकर चल" इस पर फ्रायड ने उत्तेजित होकर पूछा, "और पिताजी, आपने क्या किया?" पिता ने उत्तर दिया, "मैं गली में गया—और चुपचाप अपनी टोपी उठा ली।" यह कहकर पिता ने उसे छाती से लगा लिया। फ्रायड के अपरिपक्व मन पर इस घटना का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा—और उन्हें अपने पिता का इस प्रकार का व्यवहार खटकता रहा।

परन्तु शीघ्र ही फ्रायड का अपना आदर्श भी परिवर्तित होने लगा। उन्हें बचपन के एक ज्योतिषी की भविष्यवाणी याद आने लगी, "सिगमण्ड बड़ा होकर एक मन्त्री बनेगा।" और वे मन्त्री अथवा नेता बनकर यहूदियों का उद्धार करने की कल्पनायें करने लगे।

इन्हीं दिनों एक और घटना हुई, जिसका फ्रायड के भावी जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। एक रात सोने से पूर्व वे अपने माता-पिता के कमरे में ही अपनी शारीरिक क्रियाओं से निवृत हो लिये, जिस पर उनके पिता ने कहा "यह लड़का कभी कुछ नहीं बन सकता।" फ्रायड ने इस बात को स्मरण करते हुए लिखा है, "इस घटना का मेरे मन पर बहुत प्रभाव पड़ा होगा, क्योंकि सफलताओं से सम्बन्धित हो यह घटना मेरे स्वप्नों में बहुत

बार चित्रित हुई है—मानो मेरा अचेतन मन बार-बार कह रहा हो—"देखो, आखिर मैं कुछ बन गया, ।"

बाल्यकाल की इन छोटी-बड़ी घटनाओं ने फ्रायड के मन में अन्याय के विरुद्ध विद्रोह-भावनाओं को सुदृढ़ कर दिया। सत्य के पक्ष में उन्होंने आजीवन लोगों का मुकाबला किया, संभवतः यही कारण था कि उनके सिद्धान्तों ने लोगों के अहंभाव को चोट-पर-चोट पहुँचाई—और इसाई समाज से जो प्रतिकार वे योद्धा बन कर न ले सकते थे, उन्होंने मनोवैज्ञानिक बनकर ले लिया।

फ्रायड ६ वर्ष की अवस्था में स्कूल में प्रविष्ट हुए और १७ वर्ष की आयु में बी० ए० की डिग्री ली। वे स्कूल-काल से ही प्रतिभाशाली प्रमाणित हुए। पढ़ाई की ओर उनकी विशेष रुचि थी और पुस्तकों से अतीव लगाव। यहाँ तक कि एक बार एक पुस्तकों की दुकान से पुस्तकें खरीदने के लिए उन्होंने ऋण ले लिया, जिसे चुकाने के लिए उनके पास कोई साधन न था। उन दिनों उनके पिता भी आर्थिक संकट में होने के कारण उनके इस कार्य से अप्रसन्न हुए। परन्तु फ्रायड अपने पुस्तकों के संसार में खोये रहते थे। गेटे और शेक्सपीयर से लेकर अपने काल के सर्वसाधारण लेखकों तक उन्होंने कोई पुस्तक न छोड़ी थी।

उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है—कि यूनिवर्सिटी में प्रवेश होने के बहुत काल बाद तक वे यह निश्चय न कर पाये कि किस विषय का विशेष अध्ययन करें। उन्हीं दिनों उन्होंने गेटे के एक प्रकृति सम्बन्धी लेख पर, कार्ल ब्रूहल का एक व्याख्यान

सुना जिससे उन्हें प्रकृति-विज्ञान तथा डाक्टरी चिकित्सा के अध्ययन का निश्चय करने में सहायता मिली। 'यद्यपि चिकित्सा-प्रणाली के अनुयायियों के लिए मंत्रीत्व प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता।'

अपनी आत्मकथा में फ्रायड लिखते हैं, "अपने भाग्य की कल्पना करते हुए....मुझे अनुभव होता था कि मेरे जीवन-काल में विज्ञान में मेरे नाम की गणना न होगी। वर्षों पश्चात् कुछ अन्य वैज्ञानिक आयंगे—जो मेरे द्वारा बताये गए तथ्यों को प्रमाणित करेंगे, और अपने समय की धारा के अधिक अनुकूल होने के कारण मुझे पहचानेंगे। इस प्रकार उनका अग्रगामी होने के नाते, मैं अपनी महत्ता का भाग प्राप्त कर लूँगा। तब तक रोबिन्सन क्रूसो की नाईं मैं अपने जीवन को शान्तिमय बनाने का पूर्ण प्रयास करूँगा।—वह शानदार एकाकीपन भी बेचैनी व लाभ रहित होगा।" उनके इन वाक्यों से पता चलता है कि किस प्रकार उन्होंने साधारण मानसिक महत्ता व शक्ति से, अपनी कुमारावस्था की अपरिपक्व कल्पनाओं और दिवा-स्वप्नों को स्मृतिपटल से परे धकेल, एकाकीपन व हठ को स्वीकार करते हुए, पूर्णतया वैज्ञानिक जीवन को अपना लिया।

पिता ने निर्धन होते हुए भी पुत्र की पढ़ाई तथा विषय-चुनाव में कोई बाधा न डाली। बल्कि उन्होंने सदा फ्रायड को अपनी रूचियों का अनुसरण करने के लिए प्रोत्साहित किया। परन्तु यूनिवर्सिटी में भी जातिभेद की भावनाएँ स्कूल से कुछ कम न थीं। उन्हें अनुभव होने लगा कि यहूदी होने के कारण ही उन्हें स्वयं को हीन समझने के लिए बाध्य किया जाता है। परन्तु सहपाठियों के

हर प्रकार तंग करने के बावजूद भी, उन्होंने स्वयं को हीन समझने से इन्कार कर दिया। जीवन के इन दिनों के विषय में उन्होंने अपनी आत्म-कथा में लिखा है, "शीघ्र ही मैं जान गया कि बहु-संख्या का विरोध करने का अर्थ क्या है, और इन घटनाओं ने मेरे मन में स्वतन्त्र निर्णयों की नींव डाली।"

अपनी रुचि के अनुकूल विषय की खोज में फ्रायड तीन वर्ष तक प्राकृतिक विज्ञान के एक से दूसरे विभाग में घूमे। अन्त में उन्होंने अर्नेस्ट ब्रूके की प्रयोगशाला में शरीर-विज्ञान का अध्ययन स्थिर किया। अर्नेस्ट ब्रुके और उनके सहकारी फ्रायड भी प्रयोगशाला में इतने मग्न हुए कि छः वर्ष तक परीक्षाओं व डिगरियों आदि को विस्मरण कर, स्नायु-सम्बन्धी प्रयोगों में ही व्यस्त रहे। प्रयोगशाला में व्यतीत हुए फ्रायड के यौवन के ये छः वर्ष अतीव आनन्दमय थे। इन्होंने ब्रूके द्वारा इंगित विषयों के अध्ययन में बहुत दिन बिताये। अतः साधारणतया पाँच वर्ष में प्राप्त होने वाली 'डाक्टर आफ़ मैडिसन' की डिग्री इन्होंने ८ वर्ष में सन् १८८१ में प्राप्त की। ब्रूके की प्रयोग-शाला में इन्होंने बड़े उत्साह से परिश्रम किया। ब्रूके इनमें इतनी दिलचस्पी लेते थे कि इन्हें विश्वास हो गया कि प्रयोगशाला में स्थान रिक्त होते ही इन्हें सहायक रूप में रख लिया जायगा। परन्तु कुछ काल बाद ब्रूके ने परामर्श दिया कि ये इस पथ का ध्यान छोड़ दें, क्योंकि एक तो सहायक की नौकरी मिलनी ही कठिन है। और यदि मिल भी गई, तो उसमें आजीवन भूखा रहना पड़ता है।

अब फ्रायड के लिए आय के बिना अधिक देर तक जीवन-

निर्वाह कठिन हो गया। पिता की आर्थिक स्थिति पहले से ही कोई विशेष अच्छी न थी। इसके अतिरिक्त मार्था बर्नेज़—जिससे इन्होंने बी० ए० में ही विवाह-सम्बन्ध निश्चित कर लिया था—भी अधिक देर तक प्रतीक्षा न करना चाहती थी। अतः वे ब्रुके के परामर्शानुसार प्रयोगशाला से सम्बन्ध विच्छेद कर पदाभिलाषी के रूप में वियेना के मुख्य हस्पताल में कार्य करने लगे। वहाँ शीघ्र ही वे हस्पताल में दिन-रात रहने वाले छोटे चिकित्सक के पद पर नियुक्त कर दिये गए। यहाँ भी इन्होंने अपना एक उपर्युक्त गुरु—थ्यूडर मेनर्ड ढूँढ निकाला—जिनकी अध्यक्षता में स्नायु-सम्बन्धी खोज के प्रयोगों में उच्च शिक्षा प्रारम्भ की। इन दिनों ये चिकित्सक के तौर पर बहुत प्रसिद्ध हुए और स्नायवियों के शारीरिक रोगों पर बहुत से लेख प्रकाशित किये। मुख्यतः इन्हीं लेखों के आधार पर इन्हें सन् १८८५ में स्नायविक रोगों का अध्यापक नियुक्त किया गया। इसके कुछ मास पश्चात् ब्रुक की सिफ़ारिश पर इन्हें सफ़र करने के लिए छात्रवृत्ति मिल गई जिस से ये पैरिस गये और वहाँ चारकोट के पास रहे।

पैरिस का पागलखाना जीन मेरी चारकोट की अध्यक्षता में मानसिक रोगों के लिए यूरोप भर में विख्यात हो गया था। दूर-दूर से रोगी निद्राविभूत विधि (Hypnoses) द्वारा यहां हिस्टीरिया आदि मानसिक रोगों का इलाज करवाने आते थे। मानसिक रोगों की चिकित्सा के विद्यार्थी बहु संख्या में विद्या प्राप्ति के लिए यहाँ आते थे।

जब फ्रायड यहाँ आये तो उनका यहाँ किसी से परिचय न

था—अतः उन्होंने पहले-पहल यहाँ जीवन के बहुत उदास दिन बिताये। कई बार एकाकी घूमते-घूमते उनका मन भ्रमों से ग्रस्त हो जाता और उन्हें ऐसा अनुभव होता मानो कोई प्रियजन उन्हें ज़ोर-ज़ोर से पुकार रहा हो। एकाकी भ्रमण करते हुए उनका मन कई बार एक साथी अथवा रक्षक के लिए उद्विग्न हो उठता। कई बार दिवा-स्वप्नों में मग्न चलते चलते इन्होंने भागती हुई घोड़ा-गाड़ियों को ठहराया। उनमें बैठे यात्रियों ने स्नेहपूर्वक इनका हाथ दबाकर कहा—"आप मेरे रक्षक हैं आप ही ने मुझे बचाया, बताइये, मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ?" अपनी शून्यता को कम करने के लिए उन्होंने चारकोट से, उनके व्याख्यानों की फ्रांसीसी भाषा में लिखी हुई पुस्तक का जर्मन में अनुवाद करने की अनुमति मांगी। इस प्रकार वे चारकोट के मित्रमण्डल में प्रविष्ट हो गए।

फ्रायड चारकोट से बहुत प्रभावित हुए। वे केवल चारकोट की निद्राविभूत विधि से ही आकर्षित नहीं हुए बल्कि हिस्टीरिया की गति से और हिस्टीरिया के रोगियों पर निद्राविभूत निर्देश का प्रभाव तथा चारकोट के उनमें हिस्टीरिया के चिह्न उत्पादन और उन्मूलन की अद्वितीय विधि से भी विशेष प्रभावित हुए। निद्रा-विभूत निर्देश द्वारा रोगियों में जो हिस्टीरिया के चिह्न चारकोट उत्पन्न कर सकते थे—वे हिस्टीरिया के यथार्थ चिह्नों से नितान्त सादृश्य रखते थे। चारकोट की कार्यक्रम विधि के अतिरिक्त उनके व्यक्तित्व को भी फ्रायड आदर की दृष्टि से देखते थे। यहाँ तक कि

प्रशंसा में फ्रायड ने लिखा है कि चारकोट केवल विचारशील ही न थे बल्कि कलात्मक प्रकृति के भी थे। उनके अपने शब्दों में वे एक 'सिद्ध व्यक्ति' थे। वे नये विचारों पर, नये विषयों पर बार-बार सोचते, विचार करते और उनका प्रभाव देखते—कई दिन ऐसा करने के पश्चात् अचानक एक दिन उनके विषय में उन्हें पूर्ण ज्ञान हो जाता। नये-नये विषयों को समझना उनके लिए एक अतीव आनन्द का साधन था।

फ्रायड उस समय कदाचित यह न जानते होंगे कि वे भी विषयों की छान-बीन तथा खोज इसी प्रकार करेंगे। जो शब्द उन्होंने चारकोट के विषय में लिखे हैं वे स्वयं उन पर भी प्रयुक्त होते हैं। चारकोट के व्यक्तित्व से फ्रायड को विशेष प्रोत्साहन मिला, जिससे वैज्ञानिक निन्दा की परवाह न करते हुए, वे सिद्ध भावदर्शी की नाईं निशंक हो अपनी प्रारम्भिक योग्यता को प्रयोग में ला सके।

इन दिनों वे बहुत बार कैथिड्रल जाने लगे। जब भी दोपहर को समय मिलता, वे माट्रेडैम की लाट पर जा दिवा-स्वप्नों में खो जाते। ये स्वप्न प्राय: प्रेम अथवा मार्था के विषय में बुने-तने होते थे। पहले जिस चारकोट के मित्रमंडल में सम्मिलित होने के लिए वे उत्सुक थे, अब उससे उकता गये थे। मार्था ने भी उनकी प्रतीक्षा में चार वर्ष व्यतीत किये थे। मार्था का नाम मन में आते ही उनके रोंए खड़े हो जाते और वे उसकी निकटता के लिए उद्विग्न हो उठते। अत: कुछ ही दिन बाद वे पेरिस के लिए रवाना हो गए। परन्तु रास्ते में बच्चों के रोगों के अध्ययन के लिए रुक गये।

यद्यपि इस समय ये विवाह के लिए लालायित थे परन्तु इनके ज्ञान की लालसा भी उतनी ही प्रबल थी। इसके अतिरिक्त पेरिस आने से पूर्व इन्हें वियेना के कासूविज़ इंस्टीट्यूट नामक बच्चों के हस्पताल में मुख्य के पद का वायदा मिला था। उपरोक्त पद की प्राप्ति के लिए भी इन्होंने सोचा कि विवाह से पूर्व बच्चे के रोगों के क्षेत्र में कुछ और ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

१८८६ में वियेना पहुँचने पर इनका विवाह हो गया। विवाहोपरान्त पति-पत्नी ने सुनहास अथवा हाउस आफ एटोन्मेन्ट नामक स्थान पर अपना निवास-स्थान बनाया जिससे उन दिनों वियेना-निवासी प्लेग की नाईं डरते थे। यह स्थान स्टेट थियेटर के समीप था, जिसके, उन्हीं दिनों जल जाने से ६०० व्यक्ति मर गये थे। इस कारण लोगों को उस स्थान के विरुद्ध मिथ्या भ्रम हो गया था और कोई भी वहाँ रहने का खतरा मोल न लेना चाहता था। परन्तु उनके उस स्थान को अपनाने से अन्य लोगों ने भी अपने घर वहाँ बनाने शुरू कर दिये। इसी घर में सन् १८८७ में इनकी प्रथम सन्तान उत्पन्न हुई।

फ्रायड की माता की नाईं, इनकी पत्नी भी ज्यू संस्कृति के एक विख्यात विद्वान घराने से सम्बन्धित थीं। हैमबर्ग के शीत वातावरण में, धर्मपरायण तथा कट्टर पिता के घर में उनका पालन-पोषण तथा विकास हुआ। अतः वह शुद्ध जर्मनभाषा में बातचीत करती थीं।

यद्यपि सिगमण्ड के तथा मार्था के विवाह के प्रथम दस वर्षों में

उनके ६ बच्चे—तीन लड़के और तीन लड़कियाँ, उत्पन्न हो गये, परन्तु फिर भी उनका घर सुव्यवस्थित था तथा घर का प्रत्येक कार्यक्रम समयानुकूल होता था।

सिगमण्ड फ्रायड की पत्नी योग्य तथा निपुण थीं, परन्तु उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि वे बुद्धि व ज्ञान में फ्रायड से कोई समानता रखती थीं। उनकी माता की नाईं वे भी, उनके शारीरिक सुख का हर समय ध्यान रखती थीं। उनके जीवन की प्रथम दो नारियाँ—माता तथा पत्नी दोनों ही उनकी आवश्यकताओं को घर के अन्य सभी धन्धों से अधिक महत्व देती थीं। जिस प्रकार माता के घर में इन्हीं की आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा कामनाओं के इर्द-गिर्द सारा घराना घूमता था, उसी प्रकार उनके अपने घर में उनकी पत्नी तथा बच्चे उन्हीं की इच्छाओं के इर्द-गिर्द घूमते थे।

पहले-पहल फ्रायड को अनेकों कठिनाइयों तथा विरोधों का सामना करना पड़ा। पेरिस से लौटने पर जब उन्होंने वियेना की मेडिकल सोसाइटी के सम्मुख अपनी रिपोर्ट की व्याख्या करते हुए उन हिस्टीरिया ग्रस्त पुरुषों की चर्चा की जिन्हें उन्होंने चारकोट की प्रयोगशाला में देखा था, तो एक बड़ी आयु के जर्राह ने उठकर कहा, "व्यर्थ की बातें बन्द करो। 'हिस्टरेन' का तो अर्थ ही बच्चादानी होता है, फिर एक पुरुष हिस्टीरिया से कैसे ग्रस्त हो सकता है?" यद्यपि फ्रायड ने अपनी बात की पुष्टि के लिए एक हिस्टीरिया-ग्रस्त पुरुष प्रदर्शित किया, परन्तु किसी ने उनके प्रयोगों में कोई रुचि न दिखाई। दूसरी ओर मेनर्ट निद्राविभूत विधि के कट्टर विरोधी थे।

इसलिए उन्होंने भी फ्रायड को अपनी प्रयोगशाला से निकाल दिया। इस प्रकार शिक्षा के जीवन व मेडिकल सभाओं से अलग रहने पर बाध्य हो, वे अपने चिकित्सालय में मग्न हो गये।

फ्रायड मुख्यत: बिजली और 'निद्राविभूतकरण विधि द्वारा रोगियों की चिकित्सा करते थे। अनगिनत स्नायु रोगी उनके पास चिकित्सार्थ आते थे। चिकित्सा करते-करते फ्रायड को 'निद्राविभूतकरण विधि के दोषों का बोध हुआ, क्योंकि कई रोगियों को निद्राविभूत करना ही संभव न होता था। तब उन्हें अनुभव हुआ कि इन त्रुटियों की क्षतिपूर्ति के लिए उन्हें अभी और अधिक शिक्षा की आवश्यकता है। जिसके लिए वे ल्यूबाल्ड और बर्नहेम की कार्य-पद्धति के अनुसरणार्थ फ्रांस के नैंनसी मेडिकल स्कूल गये। यहाँ उन्हें अपने इस संशय का पहली बार प्रभाव मिला कि चेतना से परे भी कुछ मानसिक प्रक्रियाएं हैं। उन्होंने देखा कि कुछ रोगियों का निद्राविभूतकरण विधि की अपेक्षा साधारण निर्देश द्वारा इलाज करना सुगम है।

परन्तु निर्देश द्वारा रोगों की चिकित्सा की सफलता के साथ ही साथ उन्हें उसके दोषों का भी ज्ञान होने लगा। उन्हें अनुभव हुआ कि निर्देश विधि का प्रयोग रोगी पर क्रूरता करना है। रोगी को चिल्ला कर कहना, "तुम क्या कर रहे हो?" यदि क्रूरता नहीं तो और क्या है? और बर्नहम से प्रभावित हो वे रोगों के चिह्नों के विषय में सोचने लगे।

पेरिस से वापस लौटने पर फ्रायड का जोज़फ ब्रयर से पुन:

सम्बन्ध स्थापित हो गया। जोज़फ ब्रूयर प्रतिभाशाली, अनुभवी और वियेना के सुप्रसिद्ध चिकित्सक थे। जब फ्रायड ब्रुके की प्रयोगशाला में काम करते थे, तभी से उनकी ब्रूयर से घनिष्ठता थी। उनके विषय में फ्रायड ने लिखा है—"वे मेरे कठिन समय के मित्र व सहायक थे और हम परस्पर वैज्ञानिक रुचि के सहभागी बन गए।"

जब उन्हें अपने रोगियों के व्यवहार को समझने में कठिनाई आई, तो उन्होंने ब्रयर की सम्मति ली—और दोनों ने दस वर्ष पुराने एक रोगी के वृत्तान्त के विषय को फिर से सोचना प्रारम्भ किया। दस वर्ष पूर्व ब्रूयर के पास 'एना ओ' नामक एक लकवा-ग्रस्त बुद्धिमती नवयुवती आई थी। वृद्ध रोगी पिता की सेवा करते-करते उसे लकवा हो गया था और उसके मस्तिष्क में धुंधलापन छा गया था। चिकित्सा-काल में एक बार ब्रूयर ने देखा कि मानसिक स्थिति के अनुसार अपने भावों को व्यक्त कर देने से उसका धुंधलाकार मस्तिष्क अपेक्षाकृत स्पष्ट हो जाता है। निरीक्षण के आधार पर उन्होंने प्रयोगरूप में उसे निद्रा विभूतकर—अपनी मानसिक दशा व्यक्त करने का निर्देश दिया। और इस विधि से रोगिनी को स्वस्थ होते देख, उन्हें अतीव प्रसन्नता हुई। वास्तव में रोगी पिता की सेवा करते-करते उस रोगिनी को अपनी बहुत-सी प्रबल इच्छाओं का दमन करना पड़ता था जो उसके चेतन मन से परे चली जाती थीं। निद्रा-विभूत हो जब वह अपनी पूर्वघटित मानसिक अवस्था के संवेगों को व्यक्त कर देती थी, तो उन संवेगों के दमन से उत्पन्न हुए चिह्न विलुप्त हो जाते थे। फ्रायड के अनुसार ये चिह्न उसकी

उन संवेगशील मानसिक अवस्थाओं की स्मृतियां थीं, जिन्हें 'एना' ने अनुभव करते हुए भी, चेतनावस्था में कभी व्यक्त न किया। फ्रायड को बहुत आश्चर्य हुआ कि ब्रूयर ने इस विषय में और अधिक खोज क्यों न की। निद्राविभूति निर्देश विधि के दोषों को देखते हुए फ्रायड ने अपने रोगियों पर ब्रूयर की अन्तर्व्यक्तिकरण (Catharsis) विधि का प्रयोग आरम्भ किया। इन प्रयोगों में उन्हें काफी सफलता मिली।

इसके कुछ ही काल पश्चात एक घटना हुई जिसने फ्रायड को अन्तर्व्यक्तिकरण विधि में से सम्मोहन विधि को भी त्यागने पर विवश कर दिया। एक दिन एक चिरपरिचित रोगिनी युवती ने सम्मोहन अवस्था के अन्त पर फ्रायड को आलिंगन में कस लिया। सहसा एक नौकर के भीतर आने से फ्रायड के लिए स्थिति सुगम हो गई। उस दिन से उन्होंने उस रोगिनी की, बिना सम्मोहित किये, चिकित्सा करने का निश्चय किया। फ्रायड ने लिखा है—"उस दिन मुझे पता चला कि वास्तव में सम्मोह का आधार किन मानसिक प्रतिक्रियाओं पर अवलम्बित है—और इन प्रतिक्रियाओं को त्यागने के लिए मुझे सम्मोह विधि को ही छोड़ना पड़ा।"

अब उनके सम्मुख प्रश्न था कि बिना सम्मोह के चिकित्सा कैसे करें? तब उन्हें बर्नहेम का प्रयोग याद आया, जिसमें उन्होंने प्रमाणित किया था कि सम्मोह काल की घटनाएं चेतन अवस्था में भूली हुई जान पड़ती हैं—परन्तु थोड़ा-सा प्रयत्न करने पर उन्हें याद करवाया जा सकता है। उन्होंने एक स्त्री को सम्मो-

हित करके निर्देश दिया कि 'वह कमरे में नहीं है' और साथ-ही-साथ, उसे अपनी उपस्थिति का बोध करवाने के लिए उसे पीटा। जब उसे जगा कर पूछा गया कि उस काल में वह क्या कर रही थी तो उसे कुछ याद न था। परन्तु जब बर्नहेम ने उसके सिर पर हाथ रख, आग्रहपूर्ण कहा कि वह याद करने का प्रयत्न करे और उसे याद आ जायगा, तो उसने सारा वृत्तान्त कह सुनाया।

इस प्रयोग के आधार पर फ्रायड ने अपनी चिकित्सा-प्रणाली की नींव रखी। और भविष्य के लिए ब्रूयर की अन्र्तव्यक्तिकरण विधि से सम्मोह को त्याग दिया।

इन दिनों फ्रायड और ब्रूयर ने मिलकर हिस्टीरिया पर बहुत-से लेख प्रकाशित किये और कई रोगियों पर नई चिकित्सा प्रणाली का प्रयोग किया। 'मिस लूसी आर' नामक युवती जली हुई पेस्टरी और सिगार के धुँए की भूतबाधा से ग्रस्त थी। उसका विश्लेषण करने पर फ्रायड ने देखा कि वह अपने व्यवसाय देने वाले स्वामी से प्रेम करती थी, जिस प्रेम को वह स्वयं से भी छिपाना चाहती थी। उसका वह हिस्टीरिया का रोग उस दबे हुए प्रेम का एक रक्षक-मात्र ही था।

एक अन्य केस में, एक कन्या, टांगों की दर्द से ग्रस्त थी। उसका विश्लेषण करने पर पता चला कि वह अपने बहनोई से प्रेम करती थी, जिसे वह स्वयं भी पहचानना न चाहती थी। फ्रायड ने देखा कि जिस रोगी को भी उसके रोग के कारण समझा दिये जाते, उसके चिह्नों की व्याख्या कर दी जाती और छिपे हुए भावों तथा

इच्छाओं के विषय में सचेत कर दिया जाता, वह ठीक हो जाता।

हिस्टीरिया के रोग का एक महत्वपूर्ण कारण उन्हें रोगियों की सैक्स सम्बन्धी उलझनों में मिला। फ्रायड को स्वयं यह देखकर आश्चर्य हुआ कि जिस रोगी के रोग का वे इतिहास देखते उसमें उन्हें सैक्स-सन्बन्धी उलझनें मिलतीं।

इन केसों के आधार पर फ्रायड और ब्र्यूर ने मिलकर हिस्टीरिया पर एक पुस्तक लिखी, जिसे छपवाने में पहले तो ब्र्यूर हिचकिचाते रहे परन्तु बाद में इसी विषय में पेरे जेनिट के सिद्धान्त पढ़, वे छपवाने के लिए उद्यत हो गए। इस पुस्तक में फ्रायड ने पहली बार अचेतन मन के सिद्धान्त को इंगित किया।

यह फ्रायड और ब्रूअर की सहकारिता का अन्तिम चिह्न था। रोगियों का निरीक्षण करते-करते शीघ्र ही फ्रायड की यह दृढ़ धारणा बन गई कि सैक्स-सम्बन्धी-प्रवृत्तियां ही स्नायु रोगों की जड़ हैं। उनके इस मत का ब्रूअर ने कटु विरोध किया और इस प्रकार ब्र्यूर भी ब्र्के और मेनर्ट की नाईं एक दिन इनका साथ छोड़ गये।

फ्रायड ने अपनी नई विश्लेषण विधि का नाम स्वतन्त्र-सम्बन्ध-विधि (Free Association Method) रखा! जिन प्रश्नों का उत्तर वे सम्मोहन व निर्देश विधि द्वारा प्राप्त करने में असमर्थ रहे, उनका उत्तर अब उन्हें रोगियों की स्वतन्त्र कल्पनाओं के सम्बन्धों में स्पष्ट दिखाई देने लगा। हिस्टीरिया के रोग का मूल कारण क्या है, रोगी अपने रोग के चिह्नों के मूल-कारण क्यों भूल जाता है, आदि प्रश्न उनके लिए गुत्थी

बन कर रह गये थे। परन्तु रोगियों की स्वतन्त्र-कल्पनाओं के सम्बन्धों की खोज से वे इस परिणाम पर पहुँचे कि जो भाव या इच्छाएं विस्मृत हो जाती हैं वे किसी-न-किसी रूप में मनुष्य के लिए अप्रिय होती हैं और उसके व्यक्तिगत स्तर के अनुसार याद रखने योग्य नहीं रहतीं। यही मत उनके 'दमन' और 'बाधा' (Resistence) के सिद्धान्तों का मूल तत्व है। दमन और बाधा के सिद्धान्तों की नींव पर ही आगे चलकर उन्होंने मनोविश्लेषण चिकित्सा प्रणाली का ढाँचा खड़ा किया। उन्होंने देखा कि शमित इच्छाएं चेतना से शमित होने पर अचेतन मन में चली जाती हैं जहाँ वे तुष्टि के लिए निरन्तर तत्पर रहती हैं परन्तु हमारा चेतन मन उनकी पूर्ति में बाधा पहुँचाता है। चेतन मन की इन बाधक क्रियाओं को उन्होंने अहम्भाव और सुपरिअहम् का नाम दिया है। शमित इच्छाएं सुपरिअहम् और अहम्भाव के निरीक्षण से बचने के लिए चिह्नों का आश्रय लेती हैं।

रोगियों के अतिरिक्त मन की अन्य प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने पर, उन्होंने सिद्ध किया कि केवल मानसिक रोग ही नहीं बल्कि स्वप्न, भूलें, धर्म-रीतियां, कला व हँसी-मज़ाक तक सभी क्रियाएं किसी-न-किसी प्रकार हमारी दबी हुई इच्छाओं के प्रतिरूप हैं। यह हमारी दबी हुई इच्छाओं के प्रतिरूप कैसे हैं, इसका विस्तारपूर्ण उल्लेख आगामी पृष्ठों में किया जायगा।

फ्रायड के इन सिद्धान्तों ने मानव-समाज के सामूहिक अहम्भाव को एक गहरी चोट पहुँचाई और उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानो

फ्रायड ने उनकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता तक छीन ली हो। चोट इतनी गहरी थी कि केवल वैज्ञानिकों ने ही नहीं साधारण लोगों ने भी इनके सिद्धान्तों का असाधारण विरोध किया। एक समय था जबकि इनके सैक्स-सम्बन्धी सिद्धान्तों के कारण, वियेना की समृद्ध श्रेणियों की सभाओं में स्त्रियों की उपस्थिति में इनके नाममात्र से संकोच किया जाता था। वर्षों उन पर नाना प्रकार के अनुचित, अन्यायपूर्ण और कभी-कभी अश्लील प्रहार किये गए परन्तु उन्होंने कभी अपने पक्ष की रक्षा करने की परवाह नहीं की। थियूडर रीक लिखते हैं कि "एक बार जब मैंने उनसे पूछा कि आपने इतने वर्षों तक बिना उत्तेजित अथवा क्रोधित हुए सारे संसार का विरोध कैसे सहन किया,' तो उन्होंने उत्तर दिया, "मैं सोचता था समय मेरे सिद्धान्तों की पुष्टि करेगा। इसके अतिरिक्त मेरे क्रोध प्रदर्शित करने से तो मेरे विरोधियों को प्रसन्नता ही होगी।" उनका यह अपूर्व आत्म-संयम कई बार ईसा और गांधीजी के आत्म-संयम से तुलनीय जान पड़ता है।

भावुकता अथवा मानसिक दुर्बलता उन्हें अपने आप में ही नहीं वरन् दूसरों में भी असह्य थी। एक बार हैंस-सैश फ्रायड से मिलने गये। उनके आने से कुछ ही काल पूर्व फ्रायड को अपने एक चिर-परिचित मित्र की आत्महत्या की सूचना मिली थी। घटना बहुत दुःखदायी थी परन्तु उनका मन तनिक भी विचलित नहीं हुआ। आत्म-हत्या को वे अपने उत्तरदायित्व से कन्नी काटना अथवा कर्तव्य से च्युत होना समझते थे। वे जीवन को एक उत्तरदायित्व के रूप में देखते थे

और कर्तव्य पालन को सर्वप्रथम महत्ता देते थे। सत्य की खोज करना उनका मुख्य कर्तव्य था।

१८९६ से १८९८ तक तीन वर्ष फ्रायड के जीवन में विशेष महत्व रखते हैं। इस काल में उन्होंने कई महत्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर किये जिनमें से मनोविश्लेषण, स्वप्नों की व्याख्या और दिनचर्य्या की भूलें मुख्य हैं। इसी काल में अर्थात् १८९६ ईसवी में ही इनके पिता का देहान्त हुआ।

लगभग १९०२ से फ्रायड के इर्द-गिर्द सहकारी व शिष्य एकत्रित होने लगे। पहले-पहल इनके सिद्धान्तों से प्रभावित होने वालों में अल्फ्रेड आडलर, विलहैल्म स्टीकल, आइजीडार साडगर और फ्रिट्ज़ विट्टलज़ के नाम प्रमुख हैं। यह छोटा-सा सहकारी दल हर शनिवार को एकत्रित होता था और फ्रायड इन्हें भिन्न-भिन्न विषयों पर व्याख्यान देते। इन्होंने अपनी प्रणाली को उनके सम्मुख कभी सर्वथा सिद्ध अथवा दोषरहित प्रणाली के रूप में प्रदर्शित नहीं किया। जो बात उनकी समझ में न आती वे उसे स्वीकार करने में तनिक न झिजकते थे और भविष्य में खोज का पथ प्रदर्शित करने का प्रयत्न करते थे।

फ्रायड के व्याख्यान बहुत प्रभावशाली होते थे। वे अपने सुनने वालों के सम्मुख अधिक-से-अधिक वैज्ञानिक सामग्री रखकर परिणाम निकालने का भार उन्हीं पर छोड़ देते थे। वे बहुत सुदृढ़, सुव्यवस्थित और रोचक आवाज़ में व्याख्यान देते थे। उनकी भाषा अलंकाररहित होती थी और भाषा में भावुकता अथवा संवेगशीलता

नाममात्र को न होती थी। अपने भावों तथा सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिए वे दैनिक जीवन की घटनाओं से तुलना करने के आदी थे।

धीरे-धीरे उनके शिष्यों व सहकारियों का दल बढ़ने लगा और १९०८ ईसवी तक हैंस-सैश मैक्स ग्राफ़, कोनिगस्टेन, आटो रैंक, कार्ल अब्राहम, जुंग, फैरैंज़ी आदि सभी इस दल में आ सम्मिलित हुए। अब वैज्ञानिक क्षेत्र में मनोविश्लेषण का प्रभाव बढ़ने लगा। दैनिक, साप्ताहिक व मासिक पत्रों में इसके पक्ष विपक्ष में चर्चा होने लगी।

१९०८ ईसवी में फैरैंज़ी के परामर्श अनुसार सालज़बर्ग में मनोविश्लेषकों की एक अन्तर्राष्ट्रीय-कान्फ्रेंस बुलायी गई और उसमें मनोविश्लेषण के विकास को एक सुव्यवस्थित चिकित्सा प्रणाली का रूप देने के विषय में विचार किया गया। इस सभा के निर्णयानुसार एक अन्तर्राष्ट्रीय-मनोविश्लेषण-परिषद् और मनोविश्लेषण के विषय में एक मासिक पत्रिका की नींव रखी गई। इन प्रयत्नों का मनोविश्लेषण के प्रसार पर विशेष प्रभाव पड़ा और शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय-मनोविश्लेषण परिषद की शाखाएं बहुत से देशों में फैल गईं।

इसी काल में स्टैनले हॉल के निमन्त्रण पर फ्रायड और जुंग अमेरीका गये जहाँ उन्होंने मनोविश्लेषण पर पाँच व्याख्यान दिये (जो बाद में एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुए।) अमेरीका से फ्रायड अमेरीका के विषय में कोई अच्छी धारणा लेकर नहीं लौटे और अन्त तक अमेरीका के विषय में उनकी वही धारणा रही।

उनका विचार था कि अमेरीका के लोग बहुत शमित और अपरिपक्व प्रवृत्ति के हैं। वे समझते थे कि अमेरीकन सभ्यता एक बहुत बड़ा प्रयोग है जिसका सफल होना बहुत कठिन है। एक बार एक अमेरिकन पत्रकार से इस विषय में बातें करते हुए उन्होंने कहा—"अमेरीकन स्त्रियां संस्कृति के विरुद्ध चल रही हैं। अपनी विडम्बना को छिपाने के लिए उनके पास आत्मभ्रम के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। तुम्हारा अमेरीका वास्तविक रूप में स्त्रियों का राज्य है। छोटे-छोटे नवयुवक लड़कियों के साथ कालेज जाते हैं—उनसे प्रेम करने लगते हैं और ऐसी अपरिपक्व आयु में विवाह रच बैठते हैं जबकि लड़कियां लड़कों से कहीं अधिक परिपक्व होती हैं। वे नाक पकड़ पुरुषों को आगे लगाये फिरती है। इसका परिणाम है मात्री समाज। यही कारण है कि अमेरिका में विवाह संस्था असफल सिद्ध हुई है—और तलाकों की संख्या अगनित है। साधारण अमेरिकनों को विवाह के समय विवाह के विषय में लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होता। थोड़ी-बहुत शिक्षा के बिना तो हम प्यानो तक नहीं बजाते और वे इस विषय में नितान्त अशिक्षित होते हुए भी ऐसे कठिन व्यापार में जा हाथ डालते हैं। युरोप की बात सर्वथा भिन्न है। यहाँ मनुष्य नेतृत्व करते हैं—और यही ठीक भी है।" इस पर पराजित अमेरिकन ने धीमे से पूछा, "परन्तु यदि दोनों साथियों का समान स्थान हो तो अधिक अच्छा न हो?"

फ्रायड ने उत्तर दिया, "यह तो असम्भव है। असमानता अनिवार्य है। और पुरुष का प्रभुत्व अपेक्षाकृत कम बुरा है।"

मनोविज्ञान और सहकारी दल के प्रसार के साथ-ही-साथ अन्तर्राष्ट्रीय मनोविश्लेषण सभा के सदस्यों के पारस्परिक झगड़े भी बढ़ने लगे। परिषद् के प्रमुख सदस्यों में अध्यक्षता के लिए संघर्ष होने लगा। विशेषकर जब द्वितीय मनोविश्लेषण सभा में फ्रायड ने जुंग को सभापति चुनने का प्रस्ताव रखा, तो एडलर ने इस का कटु विरोध किया। तत्पश्चात् पारस्परिक विरोध, द्वेष और ईर्ष्या साप्ताहिक सभाओं का एक अनिवार्य अंग बन गए। एडलर और जुंग आदि के मतभेद परस्पर विरोध-भावनाओं में परिवर्तित हो गए। एक-दूसरे को समझने समझाने की अपेक्षा विरोध करना ही अब उन का मुख्य कार्य बन गया। इसी कारण अन्त में एडलर और उस के साथियों को मनोविश्लेषण परिषद् से अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ा।

इस परिषद् से एडलर का सम्बन्ध-विच्छेद हुए अभी एक वर्ष भी न बीता था जबकि जुंग और उस के साथियों ने मनोविश्लेषण के मूल सिद्धान्तों का ही विरोध करना प्रारम्भ कर दिया—अतः उन्हें भी उपरोक्त परिषद् से सम्बन्ध तोड़ते देर न लगी। फ्रायड इन घटनाओं की तुच्छता और सदस्यों के परस्पर द्वेष और ईर्ष्या भाव देख बहुत खिन्न हुए। एक बार इस विषय में बातें करते हुए वे एक मित्र से बोले, "क्या आज कोई जानता है कि जब कोलम्बस ने अमेरिका को खोज निकाला, तो उस के साथी कौन थे?" उनका यह विश्वास था कि इन के सम्बन्ध-विच्छेद करने से मनोविश्लेषण को कोई हानि न होगी—बल्कि स्वयं इन्हीं का नुक़सान है। वे कहा करते थे

कि मानव का बल उस के सिद्धान्तों के प्रदर्शन में हैं। अपने सिद्धान्तों का विरोध करते ही वे बलहीन हो जाता है।

फ्रायड प्रेम के स्रोत थे—परन्तु वे घृणा भी कर सकते थे। उन्होंने अपने प्रति किये गए अन्याय के बदले की भावनाओं को सुसंस्कृत रूप में परिवर्तित कर लिया। फिर भी वृद्धावस्था में कई बार वे चिढ़कर कहते, "लोग भेड़िये हैं—नितान्त भेड़िये। ये उन्हीं का शिकार करते हैं जो इन का भला करें।"—और ऐसा कहते-कहते उन का भाव क्षोभपूर्ण हो जाता।

फ्रायड अपने बच्चों को बहुत चाहते थे। बहुत बार सांयकाल के समय थकान उतारने के लिए वे अपने बच्चों को ले घूमने निकल जाते। सन्तान को, वे मनुष्य को अनादिकाल तक जीवित रखने का साधन समझते थे।

वे अपने बच्चे से प्यार करते थे—परन्तु अन्य मात-पिता तथा बच्चों के सम्बन्ध की नाईं उन के बच्चे भी उन्हें प्रेम की अपेक्षा आदर की दृष्टि से देखते थे। अत: उन का अपने बच्चों के साथ अन्य पिता और पुत्रों सा ही व्यवहार था। उन की ओर बच्चे आदर, भय तथा आज्ञाकारी दृष्टि से देखते थे। उन के ६ बच्चे थे—तीन लड़के और तीन लड़कियाँ। तीन बच्चों को उन्होंने अपने स्मृतिपटल के सब से निकट तीन व्यक्तियों के नाम दिये। आजीवन वे अपने बच्चों के भविष्य के विषय में चिन्तन करते रहे।

एक बार एक अमेरिकन पत्रकार के, मृत्यु के पश्चात् जीवन के विषय में पूछने पर, फ्रायड ने कहा, कि उन्होंने इस बात की कभी

चिन्ता नहीं की कि मृत्यु के पश्चात् वे कहाँ जायँगे या क्या होगा। वे मृत्यु के बाद के अपने जीवन की अपेक्षा बच्चों के जीवन के विषय में अधिक चिन्तित थे!

यद्यपि उन का प्रेम-विवाह हुआ था तथापि उन का वैवाहिक जीवन बड़ा रूखा, नीरस तथा साधारण था—उस में प्रसन्नता व चहल-पहल का सर्वदा अभाव रहा। उन की पत्नी नम्र, सुशील व आज्ञाकारी थी—और हर समय उन के शारीरिक सुख का ध्यान रखती थी। वह कभी उन्हें समान स्तल पर न मिल सकी। भारतीय शब्दों में वह एक 'पतिव्रता स्त्री थी।' उन का पारिवारिक जीवन आरामदायक था—यद्यपि वे उस से सदा विलग रहे।

फ्रायड दिन भर सिगार के कश लगाते रहते। उन्हें सिगरेट व सिगार पीना इतना प्रिय था कि, कभी-कभी उन्हें सिगरेट न पीने वालों पर चिढ़ आती। इन के प्रशंसक इन्हीं के अनुकरणार्थ सिगरेट पीने के अभ्यासी हो गये। युद्ध के दिनों में जब अच्छे सिगार कठिनता से मिलते थे तो उन के लिए, सिगार छिपा कर हालैण्ड से लाये जाते थे। उन की पत्नी भी सिगारों की तलाश में बहुत घूमती, क्योंकि भोजन की नाईं सिगार भी उन के दिनचर्या का आवश्यक अंग बन गए थे।

वे दिन के सब काम समयानुकूल करते। प्रातः ९ बजे से दोपहर को १ बजे तक, रोगियों का विश्लेषण करते, उस के बाद खाना खा, एक घंटा तेज़ चाल से भ्रमण करते। सैर के बाद वे बहुत ताजा महसूस करते। और फिर एक घंटा पूर्वनिश्चित नये

रोगियों का निरीक्षण करते। उस के बाद ७ या ७½ बजे तक वे फिर रोगियों के विश्लेषण में निमग्न हो जाते। फिर रात को वे स्वयं पढ़ते—और प्राय: रात को दो-दो बजे तक पढ़ते रहते। दिन के परिश्रम से थक कर दो बजे वे गहरी नींद सो जाते—और पूरे ५ घंटे शयन करते, अर्थात् सुबह ठीक ७ बजे वे उठ जाते। उन्होंने अपने काम में कभी कोई छुट्टी न की। वे अपने काम में किसी प्रकार की कोई बाधा सहन न कर सकते थे। कहा जाता है कि वियेना में सोशलिस्टों के आन्दोलन के दिनों में जब सड़कों पर पुलिस का कड़ा पहरा रहता था, तो कई रोगी निश्चित समय पर मनोविश्लेषण करवाने न पहुँच पाते—फ्रायड को उन पर बहुत क्रोध आता। जून के अन्त से सितम्बर के अन्त तक, वर्ष में तीन मास वे छुट्टी करते, परन्तु उस काल में भी वे अपने कार्य को न भूलते थे। यह तीन महीने वे लिखने का काम करते।

फ्रायड नये स्थानों को देखने व घूमने के बहुत शौकीन थे और छुट्टियों का लगभग आधा समय रमणीय दृश्यों तथा स्थानों पर घूमने में बिताते। प्राचीन वस्तु विज्ञान में दिलचस्पी रखने के नाते वे रोम और एथनज़ में भी भ्रमणार्थ जाते।

इतवार को फ्रायड थोड़ी देर के लिए अपनी माँ को मिलने जाते, जो उन्हीं की नाई ताश खेलना बहुत पसन्द करती थीं। वे स्वयं भी ताश के बेहद शौकीन थे। युवावस्था में तो अपनी मनोविश्लेषण सभा की बैठक के पश्चात् उन का केवलमात्र अवकाश तीन मित्रों के साथ ताश खेलना था। वे सर्वदा उन्हीं तीन चुने हुए मित्रों से

ताश खेलते। धीरे-धीरे ताश से उन का लगाव इतना बढ़ गया कि वे सिगार मुँह में दबा एक कुर्सी पर बैठ, दूसरी कुर्सी की पीठ पर टाँगें रक्खे अकेले ही ताश हाथ में पकड़े खेलते रहते।

फ्रायड पत्रों का उत्तर देने में कभी न चूकते थे! वे रोज अनेकों पत्र लिखते—और सब मित्रों को समय पर पत्रोत्तर देते। सैश ने लिखा है, "वे अपने लिखने के डैस्क पर एक लम्बा कागज़ रखते थे, जिस पर हर दिन की तारीख के नीचे, वे उसके बायीं ओर उस दिन के आये हुए पत्रों की लिस्ट तथा दायीं ओर उस दिन उन के द्वारा लिखे हुए पत्रों व पत्रोंत्तरों की लिस्ट लिखते थे।" वे अपने मित्रों, अपरिचित जनों, समालोचकों, अनुयायियों, रोगियों, विद्वानों, शत्रुओं तथा सहानुभूति रखने वालों को बुद्धि तथा तेजयुक्त पत्र लिखते। अपनी पुस्तकों तथा लेखों की नाईं, वे अपने सारे पत्र भी हाथ ही से लिखते थे। उन के लेख की विशेषता यह थी कि वे सारे लेख में कभी एक पंक्ति भी न काटते थे।

फ्रायड स्वभावत: ही आनन्दमय तथा शिष्टाचारी प्रकृति के थे। उन के मज़ाक बड़े सूक्ष्म होते थे। उन की बुद्धि की प्रशंसा में एक लेखक ने लिखा है, "वे चतुर, सचेत, सूक्ष्म, मौलिक तथा तीक्ष्ण बुद्धि के थे।" वक्ता इतने अच्छे थे कि किसी भी समय वह किसी व्यक्ति को किसी भी विषय पर व्याख्यान दे सकते थे। रोमन रोलेन आर्थर शिनज़लर, फ्रांज़ वर्फ़ल और स्टीफ़न ज्वेग आदि लेखक उन्हें विशेषकर प्रिय थे। आगामी जीवन में जब इंग्लिस्तान में उन्हें पता चला कि उन की पुस्तकें, शिनज़ल और बास्सरमेन आदि की

पुस्तकों के साथ जर्मनी के भरे बाजारों में जलाई जा रही हैं, तो वे शान्तभाव से कहने लगे, "कम-से-कम मैं अच्छे-से-अच्छे साथ में जल रहा हूँ।"

फ्रायड बहुत सफल चिकित्सक थे। यहाँ तक कि शीघ्र ही उन्होंने 'जादूगर' की ख्याति प्राप्त कर ली। परन्तु वे अपनी सफलताओं पर प्रफुल्लित न हो कर अपनी असफलताओं को ध्यान में रखते थे। वे बहुत विशाल-हृदय थे, जब भी कोई उन की त्रुटियों के विषय में उन्हें विश्वास दिला दे, वे स्वयं को ठीक करने से न झिझकते थे। उन्होंने कभी अपनी चिकित्सा दोषरहित और पूर्ण प्रणाली के रूप में प्रदर्शित नहीं की। वे सदा स्वीकार करने को तैयार रहते थे कि अमुक समस्या को वे अभी तक सुलझा नहीं पाये या सुलझा नहीं पायेंगे—और तब अपने अन्य सहकारियों को खोज का पथ प्रदर्शित कर देते।

दार्शनिक रूप में मानव समाज के उज्ज्वल भविष्य में विश्वास रखते हुए भी फ्रायड व्यक्तिगत जीवन में बहुत सीमा तक थे। उन्होंने अपने जीवन को रंगीलेपन, रोमांस, भावुकता, भोगविलास व अन्य दुर्बलाओं से मुक्त कर रखा था। उन्हें न तो सिनेमा में कोई विशेष रुचि थी और न नाटकों में ही। राग व गायन विद्या से तो उन्हें एक प्रकार की चिढ़ थी। हाँ—चार्ली चैपलेन का मूक नाटक उन्हें बहुत पसन्द था। फ्रायड निमन्त्रणों व उत्सवों में बहुत कम जाते थे। १९३९ में उन के मित्रों, सम्बन्धियों व समस्त संसार ने उनकी ८२ वीं वर्षगांठ एक महान उत्सव के रूप में

मनाई परन्तु वे कहीं भी उस में सम्मिलित न हुए।—अन्य उत्सवों की नाईं इस दिन भी वे एकाकी बैठे रहे। अपनी अनुपस्थिति की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि उन का कार्य समाप्त हो गया है, अब उन्हें और अधिक लोगों के सम्मुख आने की कोई आवश्यकता नहीं। आजीवन सहन किया गया अपमान उन्हें काँटे की नाईं चुभता रहा और परिपक्व अवस्था में जब लोगों ने उन्हें सम्मान समर्पित किया, तो वह उन्हें अखरने लगा।

समय की गति के साथ-ही-साथ उन का शरीर भी क्षीण होता गया। हिटलर के आस्टारिया पर आक्रमण करने से कुछ काल पहले जब थ्यूडर रीक उन से मिलने गये, तो वे बहुत परिवर्तित हो चुके थे उनकी चमड़ी मुर्झा गई थी और आँखें भीतर की ओर धँस गई थीं। उन के हाथ हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गए थे। परन्तु उन की जिज्ञासा भरी और दूरदर्शी आँखें पूर्ववत् ही स्निग्ध तथा प्रिय थीं। फ्रायड से अपनी भेंट के विषय में 'रीक' लिखते हैं, "वार्तालाप करते समय मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वृद्ध आयु से प्राप्त हुए ज्ञान से उन्होंने ऐसी ऐसी समस्यायें सुलझाई हैं जिन की सत्ता का हमें ध्यान तक नहीं आ सकता। मनोविश्लेषण के विषय में बातें करते-करते हम उस काल की दैनिक घटनाओं के विषय में बातें करने लगे। नाज़ियों के विषय में उन्होंने कहा कि उन्हें नाज़ियों के राज्य की क्रूरता और अंधाधुंध कार्यों पर कोई आश्चर्य नहीं होता। उन्हें तो केवल जर्मनी के बहुसंख्यक बुद्धिमानों के दृष्टिकोण पर आश्चर्य होता है कि—जिन्हें वे अपेक्षाकृत योग्य निर्णायक समझते थे।" जातिभेद के

विषय में बातें करते हुए उन्होंने हंस कर कहा, "देखो ! कवियों की कल्पना कितनी तुच्छ है। अपनी 'मिड समर नाइट ड्रीम' (Mid Summer Night Dream) नामक पुस्तक में शेक्सपीयर ने एक स्त्री का गधे से प्रेम दिखाया है और दर्शक इसी पर आश्चर्य प्रकट करते हैं। और यहाँ देखो—साढ़े छः करोड़ की सारी जाति ही···हाथ के इशारे से उन्होंने अपना वाक्य पूरा किया।

आगे चलकर यहूदियों के विषय में बातें करते हुए वे कहने लगे, "हमारे शत्रु हमें मिटाना चाहते हैं, परन्तु वे हमें सारे संसार में बिखेरने में ही सफल हो सकते हैं।" जब रीक ने यहूदियों के भाग्य के विषय में बात की, तो वे कहने लगे, "सर्वशक्तिमान के अधिकतर साधन अंधकारपूर्ण होते हैं और बहुत कम ही प्रिय होते हैं।" पैलेस्टाइन के यहूदियों का पुनः-उत्थान देख कर उन्हें बहुत सन्तोष हुआ और उन्हों ने वहाँ की यहूदी संस्था को लिखा, "यह हमारी जीवन-शक्ति की महानता है, जो दो हजार वर्ष की निरन्तर क्रूरता सहने पर भी जीवित रही। हमारे नवयुवक इस संघर्ष को जारी रखेंगे।"

संसार में द्वितीय महायुद्ध के बादल घिर आये थे। फ्रायड के मित्रों, सहकारियों, परिवार वालों व शुभचिन्तकों ने उन्हें बार-बार सचेत किया कि उस यहूदी-विद्रोही के आस्टरिया को विजय करने से पूर्व ही उन्हें वह स्थान छोड़ देना चाहिए। परन्तु वे कहने लगे, "आस्टरिया मेरा देश है, मैं यहीं ठहरूँगा।" ४२ वर्ष से लगातार वे एक ही मकान में रहते आये थे। इतने वर्ष तक उन्होंने उसी

खाने के कमरे में पड़ी गुलाब की लकड़ी की मेज कुर्सियों पर खाना खाया ।

अब वे ८२ वर्ष के थे । उनका दाहिना जबड़ा पूर्णतया 'कैन्सर' से ग्रस्त हो चुका था । पिछले कई वर्षों में उन्हों ने अनेकों बार इस का आपरेशन करवाया । हर पन्द्रहवें दिन उन्हें जबड़े का चीरा करवाना पड़ता था । यह दुःख उनके शरीर का अंग बन चुका था । ऐसी स्थिति में यदि उन्हें घर-बार छोड़ कर, इस युद्ध रूपी उन्माद से ग्रस्त संसार में एक अन्य अनिश्चित स्थान की खोज में निकलना उपयुक्त न जान पड़ा, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं ।

परन्तु एक दिन १६३८ की बसन्त ऋतु में जब वे प्रातःकाल अपने जबड़े में चीरा लगवा कर वापिस आये तो उन्हें भीतर घुसते ही 'गस्टापो' मिला । जो पासपोर्ट और आवश्यक कागजात उन्होंने संकट काल में जाने के लिए एकत्रित कर रखे थे, वे उन्हों ने उठा लिये । उन का धन और सम्पत्ति ज़बत कर लिए गए । उन के पुत्र के पुस्तकालय की समस्त पुस्तकें तक नष्ट कर दी गईं ।

इस दुर्घटना से वैज्ञानिक क्षेत्र में भय हुआ कि सम्भव है उन्हें बन्दी बना लिया जाय । डाक्टर अर्नैस्ट जोन्ज़ उन्हें वियेना छोड़ने पर राजी करने के लिए हवाई जहाज़ द्वारा लन्दन से वियेना आये । जब फ्रायड वियेना छोड़ने पर राज़ी हुए नाज़ी उन से दण्ड का रुपया माँगने लगे । वियेना छोड़ने के पश्चात् फ्रायड के जीवन-निर्वाह के लिए तो अमरीका के मनोविश्लेषण क्षेत्र ने रुपये का प्रबन्ध कर लिया

था। परन्तु दण्ड का रुपया देना एक कठिन समस्या थी। इस कठिन समय में एक राजकुमारी ने, जिसकी इन्होंने चिकित्सा की थी, उनकी सहायता की। उसने ढाई लाख शिलिंग दण्ड देना स्वीकार कर लिया। परन्तु यह देखकर तो नाज़ियों का लालच और भी बढ़ा और उन्हों ने दण्ड-स्वरूप इससे भी अधिक धन माँगा। उसी समय विलियम बुल्लेट (जो फ्रायड से चिकित्सा करवाते थे) को इस किस्से का पता चला। उन्हों ने अमरीका के प्रेजिडेंट रूज़वैल्ट को कहा। श्री रूज़वैल्ट ने जर्मन राजदूत को बुलाकर समझाया। इस भाग दौड़ के परिणाम स्वरूप नाज़ी २½ लाख शिलिंग में ही छोड़ने पर राज़ी हो गए।

१६३८ के जून मास में उनके प्रस्थान का पूर्ण प्रबन्ध कर दिया गया। और ८२ वर्ष की आयु में अपने देश से अपमानित हो, वह पगम्बर, अपने पूर्वजों के पदचिन्हों में चलता हुआ देश-परिवर्तन के लिए प्रस्तुत हो गया। जाते समय वे प्रसन्न थे। प्रयत्न करके वे कुछ पुस्तकें तथा फ़र्नीचर भी बचा लाये। १६३८ में ४ जून को अपनी धर्मपत्नी, तान्ते मिन्ना, एन्ना, डोरोथी बार्लथम, अपने दो कुत्तों—चौ और लुन—और कई मित्रों, रोगियों तथा नौकरों सहित फ्रायड पैरिस के लिए जाने वाली "ओरियन्ट एक्सप्रेस" में रवाना हुए। पैरिस स्टेशन पर बुल्लेट और 'प्रिंसैस जार्ज' ने उनका स्वागत किया। उस समय उन का मुखाकार मृत समान क्षीण हो चुका था। और वे सिर पर हरी टोपी और लम्बा हरा कोट पहने हुए थे। शाम

तक प्रिंसैस जार्ज के पास ठहर, सारी पार्टी ने लन्दन के लिए प्रस्थान किया ।

लन्दन में अर्नैस्ट फ्रायड और डाक्टर ज़ोन्स ने फ्रायड परिवार के लिए हैमस्टैड में पहले से ही मकान का प्रबन्ध कर रखा था। फ्रायड के क्षीण शरीर पर इस सफ़र का गहरा प्रभाव पड़ा और वे आते ही बिस्तर का शिकार हो गए। नये घर में पहुँचते ही उन के घर प्रेस सम्वाददाताओं का तांता बँध गया। इतना कष्ट उठाने पर भी फ्रायड की सुपुत्री—एन्ना ने उन के समस्त प्रश्नों के उत्तर में बार-बार केवल इतना कहा कि नाज़ियों का उन के प्रति सद्व्यवहार रहा है। क्योंकि वह जानती थी कि इस विषय में उनके उत्तरों का जर्मनी में रहने वाले सहस्रों यहूदियों के जीवन पर विशेष प्रभाव पड़ेगा।

यहाँ बहुत-से दर्शक फ्रायड को मिलने के लिए आने लगे। बर्तानियां के वैज्ञानिकों ने देश से निकले हुए यहूदी परिवार को अपनी शुभ कामनायें प्रदर्शित की। बर्तानिया की रायल सोसाइटी ने, जिस ने उन्हें सन् १६३६ में अपना विदेशी सदस्य नियुक्त किया था, अब उन्हें अमूल्य हस्ताक्षरों के लिए अपना ३०० वर्ष पुराना रजिस्टर्ड भेज, उन के प्रति अद्वितीय सम्मान प्रदर्शित किया और बर्तानवी सरकार ने 'देश वासी होने के अधिकार' दे, उन के स्वागत पर कानूनी मोहर लगा दी।

शीघ्र ही उन का स्वास्थ्य अच्छा हो गया और उन्हों ने पूर्ववत् अपना दैनिक कार्यक्रम प्रारम्भ कर दिया। वे प्रातः ८ बजे उठते, दस

बजे डाक्टर से परीक्षण करवाते और खाना खाने से पूर्व एक आध रोगी का विश्लेषण भी करते। दोपहर को 'नोज़िज और मोनोथिस्म' नामक पुस्तक समाप्त करने में तल्लीन हो जाते। इन दिनों वे घर से बहुत कम निकलते थे। लोगों से सम्बन्ध कम हो जाने के कारण, वे अब कुत्तों से बहुत प्यार करने लगे। प्रिंसेस मेरी ने उन्हें चू और लुन दो कुत्ते भेंट किये जिन्हें वे बहुत प्यार करते थे। यहाँ तक कि कई बार विश्लेषण करते समय भी वे उन्हें साथ में रखते। हैमस्टैड कुटीर के फूलों से भी वे अपने कुत्तों के समान ही प्यार करते थे। पहली बार बाग में विकसित रंग-बिरंगे फूलों को देख कर उन्होंने हँस कर कहा, "मैं केवल इतना कह सकता हूँ—हिटलर की जय।" (हेल हिटलर।) फूलों से अपने लगाव के विषय में बातें करते हुए एक बार उन्होंने अपने एक मित्र से कहा, "भाग्य की कृपा से, इनका न चरित्र है और न उलझनें ही।"

शीघ्र ही उनका १६ वर्ष पुराना भगन्दड़ फोड़ा (Caucer) चिकित्सा की सीमा लांघ गया और बर्तानिया के जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करने के तीन सप्ताह पश्चात् २३ सितम्बर १६३८ को, वे स्वर्ग सिधार गये। उसी दिन उन्हें 'गोल्डन ग्रीन" में बिना धार्मिक रीतियों के जला दिया गया। और उनकी 'राख' को उन्हीं के द्वारा खरीदे गये २२ सौ वर्ष पुराने 'ऐट्रस्कन' (Etruscan) फूलदान में डाल दिया गया। जिस स्थान पर उन्हें जलाया गया था, उसके ऊपर संगमरमर की एक समाधि बनाई गई। बहुत-ही

सरल साधारण शब्दों में समाधि पर निम्न शब्द खोदे गये—
"सिगमण्ड फ्रायड, १८५६-१९३८।"

सोलह वर्ष तक उन की दृढ़ आत्मा 'भगन्दड़ के विजयी कीटाणुओं' से लड़ती रही। वे अधिकांश लोगों से अधिक मृत्यु से सम्बन्धित रहे और अधिकांश लोगों से अधिक ही जीवित भी रहे।

जैसा कि उन्हों ने कई बार कहा था, उन का जीवन उन के लिए कार्य सिद्धी था, जिस का आजीवन पालन करना ही उन का धर्म था। उन की मृत्यु भी उन के जीवन के समान ही शांति तथा वीरता पूर्ण थी।

वे एक वीर थे, जिन की विजय युद्ध की विजयों से कहीं अधिक महत्वपूर्ण थी। उन की सफलताओं के लिए आख्यायिकाओं के परियों और भूत-प्रेतों से लड़ने वाले राजाओं के साहस की आवश्यकता है। फ्रायड तब भी अमर रहेंगे, जबकि हिटलर और मसोलिनी जैसे नाशकारों को संसार भूल जायगा।

अनायास भूलें

'मन में विचारों की प्रतिच्छाया नये दृश्यों को धुंधला बना देती है।'

सिगमण्ड फ्रायड।

दिनचर्या में कई बार अनजाने में ही हम कुछ बातें भूल जाते हैं या ग़लत कह देते हैं। हम कहना कुछ चाहते हैं, कह कुछ और ही देते हैं—यह ज़बान की भूल हैं। लिखना कुछ चाहते हैं, लिख उसके विरुद्ध देते हैं—यह कलम की भूल है। पुस्तक में जो लिखा है, वह न पढ़कर कुछ अन्य शब्द ही पढ़ जाते हैं—यह पढ़ने की भूल है। कहा कुछ जाता है, सुन कुछ लेते हैं—यह सुनने की भूल है। कई बार काफ़ी देर तक हमें अपनी भूल का पता नहीं चलता। इन सब अवस्थाओं में यदि हमारी जिह्वा, हाथ, आँख और कान की शक्ति क्षीण नहीं हो गई, तो प्रश्न उठता है कि ये सब भूलें हम क्यों करते हैं। इसके अतिरिक्त कई बार बातें करते करते हम किसी ऐसे व्यक्ति का नाम भूल जाते हैं, जिसे हम भली प्रकार जानते पहचानते हैं—यद्यपि हम कुछ क्षणों के लिए ही भूलते हैं, फिर बाद में याद भी आ जाता है। ये सब दिन की साधारण भूलें हैं जिन पर हम

कोई ध्यान नहीं देते। परन्तु ये साधारण होते हुए भी मानव-मन के गहरे सत्यों को प्रकट करती हैं।

इन भूलों के विषय में मनोवैज्ञानिकों ने समय-समय पर अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। कइयों के विचारानुसार ये भूलें, थकावट, उद्विग्नता तथा मानसिक हलचल के परिणाम हैं। इस बात की पुष्टि के लिए वे कहते हैं कि साधारणतया थकावट की अवस्था में मनुष्य इस प्रकार की गलतियां अधिक करता है। यह बात किसी हद तक ठीक भी है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों के अनुसार ये भूलें रक्त-प्रवाह की गड़बड़, उत्तेजना, मन का एक बात कहते हुए किसी दूसरी ही बात के विषय में सोचना आदि के परिणाम-स्वरूप होती हैं।

जहाँ तक शारीरिक परिस्थितियों का सम्बन्ध है, ये सब कारण भी ठीक हैं। परन्तु हम देखते हैं कि जब ये सब कारण उपस्थित नहीं होते और मनुष्य के रक्त-प्रवाह में गड़बड़, थकावट व उत्तेजना भी नहीं होती, तब भी ये गलतियां होती रहती हैं। कई बार मनुष्य मौन, शान्त और ताज़ा हालत में भी अनेकों ऐसी बातें करता है।

यह देखते हुए कुछ अन्य मनोवैज्ञानिकों ने कहा कि ये भूलें ध्वनि की समानता, शब्दों की एकरूपता, या उस शब्द के साथ कुछ मानसिक सम्मेलनों के परिणामस्वरूप होती हैं। यह बात भी भूलों की समस्या को सुलझाने में सहायक है।

यह ठीक है कि हम भूलकर एक शब्द कहते समय उसी से मिलता-जुलता कोई दूसरा शब्द कह जाते हैं, परन्तु इससे हमें यह

पता नहीं चलता कि हम ऐसा क्यों करते हैं ? हमारा मन एक बात को कहते-कहते भूल में दूसरी बात के हेर-फेर में क्यों फँस जाता है ? जब एक शब्द हमारे मन में चक्कर काटता हुआ जान पड़ता है तो वह हमारी जिह्वा पर क्यों नहीं आता ? उसके प्रत्यक्षतया आने में कौन-सी मानसिक बाधायें हैं ? अब हमें इन सब प्रश्नों पर विचार करना है ।

कई बार ऐसा होता है कि हम अमुक व्यक्ति से किसी विशेष समय पर मिलने का वायदा करते हैं, परन्तु भूल जाते हैं । कोई निश्चय करते हैं परन्तु वह हमें याद नहीं रहता । कई बार हम जिस नाम को याद करने का प्रयत्न करते हैं, उसे ही भूल जाते हैं। दूसरी ओर विद्यार्थी अपनी परीक्षा में बैठने का समय कभी नहीं भूलता और प्रेमी अपनी प्रेमिका से मिलने का समय भी नहीं भूलता— यद्यपि वह किसी इन्शोरेन्ट एजण्ट से मिलना भूल जाता है । इस प्रकार की भूलों के उलाहने भी सुनने में आते हैं—'हाँ भई, तुम्हें मेरा नाम क्यों याद रहने लगा ?' इत्यादि। किसी को यह कहना कि मैं तुम्हारा परिचय भूल गया, शायद शिष्टता के भी विरुद्ध है ।

सैनिक जीवन में भूलने के कारण को कोई महत्व नहीं दिया जाता । कानून भूल को सुदृढ़ कारण नहीं मानता । भूल का कारण बेपरवाही माना जाता है । डारविन अपने कार्यों के समस्त समालोचकों तथा समालोचनाओं को अपनी डायरी में नोट कर लेता था, क्योंकि उसे ख्याल था कि वह और कुछ भूले या न भूले, इनको भूलने की बहुत सम्भावना है । इससे पता चलता है कि भूल केवल

बेपरवाही ही नहीं बल्कि याद रखने की अनिच्छा भी है। हम केवल वही बातें भूलते हैं, जो हमारे प्रतिकूल हों। हम अपने ऋणों को भूल जाते हैं—ऋणी को कभी नहीं।

एक बार एक मित्र ने बताया कि प्रतिदिन सायंकाल सैर से लौटते वक्त वह अपनी पत्नी के लिए पान लाया करता था। एक दिन उसकी पत्नी की अनुपस्थिति में उसकी बहन ने उसे पान लाने को कहा—परन्तु वह भूल गया। उस दिन का वातावरण भी पूर्व दिनों की तरह ही था। परन्तु उन दिनों अपनी बहन के साथ उसकी कुछ अनबन-सी चल रही थी—वही अप्रत्यक्ष में उसकी भूल का मुख्य कारण बन गयी।

एक बार मैंने अपने कुछ परिचितों को चाय पर आने का अनुरोध किया, परन्तु जिस दिन सायंकाल उन्होंने आना था, मैं बिल्कुल भूल गई कि मैंने किसी को चाय पर निमन्त्रण दिया है। दोपहर को बैठे-बैठे उकता कर, पास ही एक सखी के घर चली गई। रात को जब घर वापस लौटी—तो उनकी चिट पड़ी थी।

एक दिन मेरी एक सहेली का पत्र आया कि वह अगले दिन सायंकाल की गाड़ी से आ रही है। मैं उसी वक्त घबड़ा कर उठी और कपड़े बदल उसके स्वागत के लिए तैयार हो रही थी कि मेरी एक अन्य साथिन ने पूछा : "कमला तो कल आयेगी न ?" दूसरे दिन उसने शाम की गाड़ी से आना था, परन्तु मुझे ख्याल रहा कि वह सुबह की गाड़ी से आ रही है, जो बाद में मेरी भूल निकली।

इस अवस्था में अपनी सखी को शीघ्र मिलने की उत्सुकता में ही मैं ऐसी भूलें कर रही थी।

पहले उदाहरणों में भूलों का मुख्य उद्देश्य उन व्यक्तियों के प्रति अन्यमनस्कता थी और इसमें अतीव उत्सुकता। यद्यपि दोनों में अभिप्राय की समता है—अर्थात् दोनों ही किसी-न-किसी रूप में इच्छापूर्ति के साधन हैं। अतः इन अवस्थाओं में ये भूलें दबी हुई मानसिक इच्छाओं की पूर्ति की रूपक हैं।

एक बार एक होटल का बैरा पादरी के घर गया और उसका दरवाज़ा खटखटाया। जब पादरी ने दरवाज़ा खोलते हुए पूछा—"कौन है?" तो घबड़ा कर बैरा ने जवाब दिया—"लार्ड, मेरे बैरे।" जबकि उसे कहना चाहिए था, "बैरा, मेरे लार्ड।" इस भूल में घबराहटवश शब्दों के हेर-फेर के अतिरिक्त उस बैरे के अन्तर्मन की दबी हुई इच्छाएं भी व्यक्त होती हैं। लार्ड की सेवा करते-करते कितनी बार उसके मन में आया होगा कि काश! वह ही उसके स्थान पर लार्ड होता।

एक बार एक प्रसिद्ध समाचार-पत्र में छपा कि "उपस्थित जनों में माननीय 'क्लाउन प्रिंस' (विदूषक राजकुमार) भी थे।" दूसरे दिन उसी पत्र ने अपनी गलती को ठीक करते हुए लिखा कि 'क्लाउन प्रिन्स' नहीं, उनका अभिप्राय 'क्रो प्रिन्स' (कौए जैसा राजकुमार) से था। इस पत्र ने अपनी भूल को सुधारते हुए भी बड़ी भारी भूल कर दी। वास्तव में उसे 'क्राउन प्रिन्स' (युवराज) लिखना था। पत्र की इस निरन्तर भूल से उस पत्र के कार्यकर्त्ताओं के मन में

राजकुमार के प्रति द्वेषभाव का आभास मिलता है। नहीं तो निरन्तर ये भूलें क्यों हुईं, और भूल में भी ये द्वेष प्रकट करने वाले शब्द ही क्यों लिखे गए?

एक बार एक मित्र अपनी बहन के लिए डाक्टर से दवाई लेने गया, जो उस समय टायफाइड से ग्रस्त थी। जब डाक्टर दवाई दे रहा था तो उस व्यक्ति ने कहा "डाक्टर साहब, कल के लिए भी दे दिजिये, ताकि मुझे दोबारा न आना पड़े।" वाक्य पूरा होने से पूर्व ही उक्त व्यक्ति की चचेरी बहन जो उसके साथ थी, मज़ाक में बोली—"हाँ, डाक्टर साहब, इन्हें वर्ष भर के लिए ही दे दें ताकि वह वर्ष भर बीमार रहे।" जबकि वह कहना चाहती थी—"ताकि इन्हें वर्ष भर न आना पड़े।" पहले तो मज़ाक ही इतना द्वेषपूर्ण था और उस पर भी हो गई भूल—कितनी विषैली! अपनी भूल को अनुभव करते ही, उसके चेहरे पर विषाद की रेखाएं अंकित हो गईं। और जब हंसते हुए उस व्यक्ति ने उसके इस व्यवहार का विश्लेषण बताया तो वह झल्ला उठी, हालांकि जब उसे किसी और के व्यवहार का बताया जाता तो वह कभी न झल्लाती थी।

प्राय: हम सब के साथ ऐसी अनेकों घटनाएं घटती हैं। इसी प्रकार हम कई बार अपने अन्तर्मन के भावों को अनजाने में ही कह डालते हैं। हमारा अचेतन मन, सचेत मानस एवं अन्तरात्मा के दबाव के कारण बहुत-सी इच्छाओं को साधारणतया प्रकट नहीं कर पाता, इसीलिए उन्हें भूलों, स्वप्नों तथा मज़ाकों आदि की वेश-भूषा पहना कर उपस्थित करता है। उपरोक्त उदाहरण में इस लड़की ने

उस व्यक्ति की बहन के प्रति मज़ाक तथा भूल के रूप में अपने द्वेष तथा क्रोध को प्रकट किया और अपने मन की घृणा तथा द्वेषभाव का वास्तविक परिचय पाते ही उसका मन ग्लानि एवं अपराध के कारण काँप उठा।

साधारणतया इन भूलों को दो भागों में बांटा जा सकता है। कुछ भूलें शब्दों की समानता के कारण तथा दूसरी शब्दों की विपरीतता के कारण होती हैं। एक व्यक्ति अपनी बहन को 'होस्टल' में दाखिल करवाने जा रहा था, रास्ते में उसके एक मित्र ने पूछा, "मित्र, कहाँ जा रहे हो?" उत्तर में उसने कहा, "अपनी इस बहन को 'हस्पताल' दाखिल करवाने जा रहा हूँ।" उसका मित्र हंस पड़ा। तब उस लड़के को अपनी भूल का पता चला। यद्यपि वह उसे 'होस्टल' में दाखिल करवाने जा रहा था, परन्तु वह उसे मन-ही-मन 'हस्पताल' में दाखिल करवाना चाहता था, क्योंकि वह लड़की स्नायु-रोग से ग्रस्त थी और प्रतिदिन सिर दर्द, ज्वर और तबियत खराब होने की शिकायत करती थी। यह पहली प्रकार का उदाहरण है जिसमें इच्छा, शब्दों की समता के रूप में व्यक्त हुई है।

एक बार पार्लमेंट के अध्यक्ष ने अधिवेशन को आरम्भ करते हुए कहा, "साथियो, कोरम पूरा है, अब मैं अधिवेशन समाप्त करता हूँ।" इस उदाहरण में उपरोक्त अध्यक्ष अनेक कारणों से अधिवेशन को प्रारम्भ करने की अपेक्षा समाप्त करने के पक्ष में अधिक था, परन्तु कोरम पूरा होने के कारण अधिवेशन शुरू करने के अतिरिक्त

और कोई चारा न था। अतः उसकी वह दबी हुई इच्छा विपरीत शब्दों ने प्रकट कर दी।

एक व्यक्ति जो बहुत कठोर तथा निर्दय स्वभाव का था, सर्वदा अपने पुत्र को निर्दयता से पीटता था। उसका वह पुत्र २१ वर्ष की अल्प अवस्था में चल बसा। उसकी मृत्यु पर पिता को बहुत दुःख हुआ। अपना दुःख प्रकट करते हुए एक मित्र से वह कहने लगा—"बेचारा बहुत भला था। इतनी अल्प आयु में ही हम सब को अपनी मृत्यु के दुःख से दुःखी करता हुआ चल बसा! अच्छा। परमात्मा उसे 'नरक' में शान्ति दे।" कहते ही उसे अपनी भूल का पता चला। वह बहुत लज्जित हुआ और कई अन्य वाक्यों में अपनी उस गुप्त इच्छा को छिपाने लगा। वास्तव में उलका पुत्र के प्रति दुर्व्यवहार रहा था—और मन-ही-मन वह स्वयं को बेटे का हत्यारा समझ रहा था। अन्तिम समय तक उसने बेटे के लिए डाक्टरी व्यवस्था तक का ठीक प्रबन्ध न किया। पुत्र भी मृत्यु के समय अपने पिता की शक्ल तक न देखना चाहता था। पुत्र के प्रति उस व्यक्ति के अचेतन मन में द्वेष तथा ईर्ष्या थी और वह उससे घृणा करता था। अब वह अपने दोष को छिपाने के लिए बेटे के लिए कुछ अच्छे शब्द कहना चाहता था, ताकि वह लोगों की आँखों में धूल झोंक सके। परन्तु उसके शब्दों ने अनजाने में ही उसके अन्तर्मन की बात कह दी।

इसी तरह एक व्यक्ति ने अपनी पत्नी से कहा—"मेरा ख्याल है तुमने मेरा टोप पूरी तरह तोड़ दिया होगा।" वास्तव में उसने उसे अपना टोप सीने के लिए दिया था और वह कहना चाहता था—

"जोड़ दिया होगा" परन्तु अनजाने में ही उसके मुँह से यह उलाहना निकल पड़ा ।

एक जर्मन कैमिस्ट ने आजीवन विवाह न किया क्योंकि वह विवाह के दिन बिल्कुल भूल गया कि आज उसकी शादी है। और विवाह में सम्मिलित होने की अपेक्षा वह अपनी प्रयोगशाला में व्यस्त हो गया। हर जगह उसे खोजा गया परन्तु प्रयोगशाला में ढूँढ़ने की किसी को भी न सूझी। उसे अपनी इस भूल का अर्थ समझने में तनिक भी देर न लगी और उसने आजीवन क्वांरा रहने का ही निश्चय कर लिया।

ये लेखनी तथा बोलचाल की कुछ साधारण भूलें हैं जिनका रूप बहुत विकृत नहीं हुआ। इसमें प्रकट की हुई इच्छाएं ऐसी न थीं जो मनुष्य के सचेत मानस को असह्य हों, इसलिए अचेतन मन को इन्हें छिपाने का इतना प्रयत्न न करना पड़ा। इससे कठिन वे अड़गम-शड़गम तथा अर्थहीन भूलें हैं जो कई बार सर्वथा अर्थहीन जान पड़ती हैं, परन्तु विश्लेषकों के सम्मुख उनका अर्थहीन दिखाई देना ही अर्थ-पूर्ण होने का चिह्न है। ऐसी भूलों का अर्थ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा ही पता चलता है।

भूलों के कई उदाहरण तो सरल हैं, उन्हें साधारणतया हर व्यक्ति सुगमता से समझ सकता है, परन्तु इससे कुछ कठिन और उलझनभरी भूलें भी हैं जो प्रत्यक्ष में कोई सरल अर्थ या इच्छापूर्ति व्यक्त नहीं करतीं अर्थात् जिन भूलों के विषय में प्राय: लोग यह कह कर टाल देते हैं कि ये तो बिल्कुल अर्थहीन हैं। कई बार मनुष्य अर्थहीन

ध्वनियाँ करता है या किसी शब्द का अशुद्ध उच्चारण करता है, जिसे देखकर मनुष्य सोचता है, भला इन भूलों का क्या अभिप्राय हो सकता है ? परन्तु उनका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि वे केवल अर्थहीन ध्वनियाँ और अशुद्ध उच्चारण ही नहीं, बल्कि ध्वनि का ऊँचा या नीचा होना अथवा उनकी उच्चारण-विधि भी हमारे अज्ञातमन तथा अर्धचेतन मन की गतिविधि की सूचक है। यदि हम किसी शब्द का अशुद्ध उच्चारण करते हैं तो हमें सोच लेना चाहिये कि या तो हमारे उस शब्द के साथ कुछ बुरे सम्मेलन जुड़ गए थे, या भूलकर जिस शब्द का उच्चारण किया गया है उसके साथ कुछ विशेष भले सम्मेलन, अथवा दोनों ही।

कुछ उदाहरण :

एक घोड़े के मालिक से पूछा गया—"यह घोड़ा कैसा है ?" तो वह बोला—"यह बहुत बुरा है···इसके मरने में भी एक मास लगेगा।' इसका मर्म पूछने पर उसने बताया कि 'वह सोच रहा था कि यह व्यापार 'बहुत बुरा' है। उसको वह घोड़ा खरीदे एक मास हो गया था, और इस बीच वह उससे बहुत तंग आ गया था। वह कहना चाहता था 'बहुत बुरा व्यापार।' परन्तु मन-ही-मन वह उस घोड़े की मृत्यु चाहता था, अतः अनजान में ही उसने अपने अचेतन मन की इच्छा व्यक्त कर दी।

एक बार हाऊस आफ़ कामन्ज़ के एक सदस्य के विषय में सभापति ने कहा, " 'सैन्ट्रल हैल' के माननीय सदस्य" जबकि वह कहना चाहता था, 'सैन्ट्रल हॉल.......'। याद रहे अंग्रेजी के 'हैल'

शब्द का हिन्दी में अर्थ है 'नरक'। भूल से यह 'हैल' शब्द का प्रयोग अन्य सदस्यों को भी खला। उक्त वक्ता ने आगे चलकर अपने भाषण में निर्देश भी कर दिया कि वह भूल, उन समस्त सदस्यों पर लागू न थी, वह तो विशिष्ट सदस्य के विषय में ही 'हैल' शब्द का प्रयोग कर रहा था। उक्त सभापति ने जो अपने भाषण में व्यक्त किया, वह भी अनजाने में ही। अन्यथा उस सदस्य की उपस्थिति में वह इस बात को कभी व्यक्त न करता।

एक ज्योतिषि ने एक विशिष्ट तारे के रहस्य को समझाते हुए अपने विद्यार्थियों से पूछा कि क्या वे भली भांति समझ गए हैं? सब विद्यार्थियों ने एक साथ ही उत्तर दिया—'हाँ'। इस पर ज्योतिषि ने कहा—"तुम लोगों के हाँ कहने पर भी मुझे विश्वास नहीं होता कि तुम समझ ही गए हो। क्योंकि संसार-भर में इस तारे के भेद को पूर्णतया समझने वालों की गणना एक अंगुली पर...अर्थात् मेरे कहने का अभिप्राय है···एक हाथ की अंगुलियों पर हो सकती है।" इस छोटी-सी भूल का अर्थ बड़ा रहस्यमय है। उस अध्यापक के कहने का अभिप्राय था कि उस विज्ञान को तो केवल एक व्यक्ति समझ पाया है और वह है—स्वयं वह अध्यापक। परन्तु यह बात कहते-कहते उसका सचेत मन हिचकिचा गया।

इस प्रकार की भूलों के विषय में बहुत से लोग कहेंगे कि इनमें थकावट, मानसिक उत्तेजना, रक्तप्रवाह में गड़बड़ तथा मन का एक बात कहते हुए किसी दूसरे विषय को सोचना भी तो प्रमुख कारण हो सकते हैं। ठीक है! परन्तु इन कारणों की यथार्थता को ध्यान

में रखते हुए हम देखते हैं कि ये कारण समस्त भूलों पर लागू नहीं होते। ज़बान की ये छोटी-छोटी भूलें तथा अशुद्ध उच्चारण, स्वस्थ अवस्था में भी होते ही रहते हैं।

कई बार शब्दों की अशुद्धि एक बात को स्पष्ट करते-करते दूसरा ही अर्थ बता देती है। तब वह वाक्य कई वाक्यार्थों का संक्षिप्त वाक्य जान पड़ता है। एक स्त्री ने बड़ी दृढ़ता से अपने पति के विषय में कहा कि "वह जो कुछ 'मैं' चाहूँ खा-पी सकता है।" मानो वह कह रही थी—वह जो कुछ भी स्वयं पसन्द करे खा-पी सकता है—परन्तु वह क्या पसन्द करता है, यह जानने की आवश्यकता ही क्या है? पसन्द करके चुनाव तो करूँगी मैं स्वयं ही— कि वह क्या खावे पीवे।" यह स्त्री वास्तविक जीवन में शासक स्वभाव की थी—और घर में प्रत्येक वस्तु को अपनी इच्छानुकूल रखना चाहती थी।

भूलों का विश्लेषण कैसे?

प्रश्न उठता है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी भूलों के विश्लेषण के लिए हमें कुछ न बताये, तो क्या हम उसकी भूलों का अर्थ निकाल सकते हैं? हाँ, अनेकों बार। भूलों की समता को छोड़ घटनाओं की समता से भी अर्थ निकाला जा सकता है। कई बार हम अनजाने में ही किसी का नाम बिगाड़कर बोल जाते हैं, तो उसमें वही ध्येय रहता है, जो कि हमारा जान-बूझकर किसी का मज़ाक उड़ाने के लिए नाम बिगाड़ने में होता है। इसके अतिरिक्त उस मानसिक अवस्था का अध्ययन करने से—जिसके परिणामस्वरूप वह भूल हुई, भूल करने वाले व्यक्ति के आचरण

और पूर्व व्यवहार जानने से, तथा भूल करने से पूर्व उसके मानसिक भावों के ज्ञान से भी भूलों का अर्थ जाना जा सकता हैं। ये सबतो भूल का अर्थ निकालने के ढंग हैं—जो बाद में व्यक्ति की मानसिक अवस्था को पढ़ने से प्रमाणित हो जाते हैं। जिस स्त्री ने कहा था कि 'जो कुछ भी 'वह' चाहे उसका पति खा पी सकता है,' विश्लेषण करने पर पता चला कि वह शासक प्रकृति की स्त्री थी—जो सारे घर पर अपनी ही इच्छा की धाक जमाना चाहती थी।

प्रत्यक्षतया अर्थहीन दिखाई देने वाली साधारण भूलें भी विश्लेषण करने पर बड़ी अर्थपूर्ण प्रमाणित होती हैं। छोटी-छोटी तुच्छ भूलों के पीछे भी कोई-न-कोई रहस्य छिपा रहता है।

कई बार हम कोई वस्तु किसी स्थान पर रख कर भूल जाते हैं और खोजते समय बिल्कुल भी ध्यान नहीं रहता कि हम कहाँ रख बैठे। इस भूल के पीछे भी मूल नियम तथा मानसिक व्यवहार तो वही है, जो अन्य साधारण भूलों के पीछे है। ये भूलें सर्वदा दो परस्पर विरोधी इच्छाओं के संघर्ष के परिणामस्वरूप होती हैं।

एक छोटे से ८ वर्षीय लड़के से अपने जीजा के द्वारा भेंट की गई पेंसिल खो गई, जिसे वह बहुत चाहता था। वह उस पेंसिल को सदा ध्यानपूर्वक सम्हाल कर रखता था। यदि उस लड़के का बहनोई के प्रति प्रेम था और उनके द्वारा भेंट की गई पेंसिल से लगाव था, तो उससे वह पेंसिल खो क्यों गई? जब उस लड़के से पूछा गया तो उसने बताया कि कुछ दिन पहले उसे अपने बहनोई का पत्र मिला था, जिसमें उन्होंने लिखा था—'इस समय तुम्हारे ओछेपन और

आलस्य को प्रोत्साहित करने का न मेरे पास अवकाश ही है और न इच्छा ही।' उस लड़के से, पत्र में लिखे ये वाक्य सुनने के बाद, हमें यह जानने में देर न लगेगी कि उससे वह पेंसिल क्यों खो गई? इस पत्र द्वारा उस लड़के के मन में अपने बहनोई के प्रति दुर्भाव उत्पन्न हो गया था, अतः उनके द्वारा भेंट की गई पेंसिल से अप्रत्यक्ष रूप में घृणा उत्पन्न हो गयी।

हम चाबियाँ क्यों भूलते हैं?

जोन्स ने चाबियों की भूल के विषय में कहा है—'चाबियों का परस्पर बदलना भी एक बड़ी अर्थपूर्ण भूल है। जब मैं अपने घर बैठा, किसी विशिष्ट कार्य में संलग्न होता हूँ, और बीच ही में बाधा डालकर दिनचर्या के साधारण कार्यों के लिए मुझे हस्पताल बुलाया जाता है, तो प्रायः हस्पताल पहुँच कर मैं अपने औषधागार को अपने घर के पढ़ने के कामों के डैस्क की चाबी से खोलने लगता हूँ—जबकि वे दोनों चाबियाँ परस्पर बिलकुल भी मिलती-जुलती नहीं। वास्तव में इस भूल में मेरा अचेतन मन अनजाने में ही बता देता है कि इस समय मुझे कहाँ होना चाहिये था—अर्थात् मेरी कहाँ होने की इच्छा थी। बहुत से लोग चाबियों को कई ऐसे ही कारणों से भूल जाते हैं। जो व्यक्ति अनजाने में ही दफ्तर की चाबी से घर का कमरा खोलने का प्रयत्न करता है, निश्चय ही उसके गृह-जीवन में कोई-न-कोई गड़बड़ है।

एक बार मैंने बैंक में जा, सेफ़ को खोलने के लिए अपने घर की चाबी निकाली। जब मैनेजर ने बताया कि वह आभूषणों के सेफ की चाबी नहीं है, तो मुझे बहुत आश्चर्य हुआ। उस समय मैं एक आवश्यक कार्य के लिए अपने सेफ में से ३००० रुपया लेने गई थी।

सेफ बन्द होने में २० मिनट बाकी थे और मेरा घर ३ मील की दूरी पर था। अतः उस समय घर वापस जाकर सेफ की चाबी लाना सम्भव न था। वास्तव में इस प्रकार सेफ की चाबी को घर पर ही भूलना मेरा सेफ से रुपया निकालने की अनिच्छा थी। दोनों चाबियों में बहुत भेद था अतः समता से भूल न होनी चाहिये थी।

कई वस्तुओं को खोने से यह भी अर्थ निकलता है कि खोने वाला त्याग, दान या बलिदान के भाव की एक अज्ञात इच्छा-पूर्ति कर रहा है। इसके अतिरिक्त कई बार खोने वाला स्वयं को दण्ड देने के लिए ही कोई वस्तु खोता है। परन्तु इन सब कारणों के पीछे एक ध्येय रहता है—और वह है—'किसी चीज़ को खोने की इच्छा।' अन्य भूलों की तरह खोना उस इच्छा की भी पूर्ति करता है, जो वास्तविक जीवन में पूर्ण न हो सकी हो।

फ्रायड ने अपने एक रोगी का उदाहरण लिखा है। उस रोगी को फ्रायड ने मना किया था कि वह अपनी प्रेमिका को टेलीफ़ोन न करे। परन्तु एक दिन रोगी ने अनजाने में ही, कुछ सोचे-समझे बिना फ्रायड को टेलीफ़ोन करते समय, भूलकर प्रेमिका का नम्बर मिला लिया। फलस्वरूप टेलीफ़ोन फ्रायड के पास न पहुँचकर, उसकी प्रेमिका के पास पहुँच गया।

इसी प्रकार हमारे ज्ञात व्यवहार पर कई बार अज्ञात इच्छाएँ प्रभाव डाल देती हैं जिनके सम्मुख हमें पता नहीं चलता कि क्या हो गया।

इसी प्रकार एक बार एक १७ वर्षीय कन्या ने जीवन में अपनी कुछ मानसिक ग्रन्थियों तथा उलझनों का उल्लेख करते हुए बतलाया

कि वह कई बार एकान्त में ही उनके कारण रो पड़ती है। यद्यपि वह जानती है कि रोना कोई सुझाव नहीं परन्तु इसके सिवा उसके पास कोई चारा नहीं। उसकी भाभी ने बड़ी गम्भीर मुद्रा से एक मानसिक चिकित्सक का नाम लेते हुए कहा, कि उसे अमुक डाक्टर से इलाज कराना चाहिये। इस पर वह कन्या बोली—'भला मैं उस बूढ़े के पास जाकर क्या करूँगी ? वह क्या कर सकता है ?···" परन्तु ये शब्द कहते-कहते वह स्वयं ही लज्जित हो सटपटा गई और अपने वाक्य को शुद्ध करते हुए बोली : 'यानी मेरा मतलब है····वह क्या इलाज करेगा और फिर···वह बहुत दूर भी तो है—अर्थात् बहुत दूर रहता है।' इस पर उसकी भाभी ने हँसते हुए कहा—"मैं समझ गई। तुम्हें बूढ़े के पास भला क्यों भेजने लगे हम ?"

उस कन्या ने अस्पष्ट शब्दों में यह बता दिया कि उस बीमारी का एक ही उपाय है—परन्तु वह उपाय कोई वृद्ध पुरुष नहीं हो सकता।

संक्षेप में, हम वह वस्तु खोते हैं जो खराब हो जाय या हमारा उसके प्रति कोई आकर्षण न रहा हो; अथवा वह किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा दी गई हो जिसके प्रति हमारे मन में कुछ दुर्भाव उत्पन्न हो गए हों, अथवा हम उसे खोकर किसी अपराध का प्रायश्चित्त करना चाहते हों या उसके लिए स्वयं को दण्ड देना चाहते हों। इन सब के पीछे एक ही मुख्य ध्येय है—जो इन सब भूलों को प्रेरणा देता है, और वह है—हमारी अज्ञात इच्छा। अतः हम सोच-समझकर फ्रायड के शब्दों को पुनः दोहरा सकते हैं कि—मन में विचारों की प्रतिछाया, नये दृश्यों को धुँधला बना देती है।'

अचेतन मन

मनोविश्लेषण का सारा ढाँचा अचेतन मन की सत्ता पर निर्धारित है। अचेतन मन की सत्ता इसलिए—कि इस विषय में अब कोई मतभेद नहीं रहा। कुछ मनोवैज्ञानिकों में अचेतन मन के गुणों के विषय में मतभेद हो सकता है परन्तु—मन की सत्ता में किसी प्रकार भी विश्वास रखने वाले मनोवैज्ञानिकों में—इस विषय में कोई मतभेद नहीं कि जीवन की अधिकतर क्रियाएं अचेतन मन से निश्चित होकर आती हैं।

साधारण लोगों के लिए विशेषकर उनके लिए जो पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रगति से सर्वथा अनभिज्ञ हैं, किसी भाव का चेतना में न होकर मानसिक होना ही तर्कहीन और हास्यास्पद बात है। उनके लिए चेतना ही समग्र मन है। सम्भवतः कुछ लोग तो आपका मज़ाक ही उड़ाने लगें यदि आप उन्हें बतायें कि स्वप्न हमारे मन की एक क्रिया हैं अथवा हमारी दिन-प्रतिदिन की भूलें हमारे अचेतन मन की चालें हैं जो वह कुछ स्थितियों का सामना करने से बचने के लिए और कुछ अन्य की प्राप्ति के लिए चलता है। और वे हँसें भी क्यों न! अपने ही आत्मीयों का वध करने वाले स्वप्नों की क्रिया को अथवा ऋण लेकर भूल जाने जैसी भूलों को वे अपने मन की क्रिया

मान भी कैसे सकते हैं ?—बेशक वे अचेतन ही क्यों न हों । परन्तु वैज्ञानिक निरीक्षण की निष्पक्ष तीखी धार के सामने अपना-पराया कुछ नहीं ठहरता । उसके सामने जीवन का जो अंग भी आ जाय वह उसे ही काट-छाँटकर यथासम्भव तथ्य आपके सामने रख देती है ।

वैज्ञानिक अपने निरीक्षण से एक कामचलाऊ सिद्धान्त बनाता है, फिर उस पर प्रयोग करता है और उन प्रयोगों के आधार पर उसे सिद्ध करके वैज्ञानिक क्षेत्र को अर्पित करता है । तब अपने अपने क्षेत्रों में जुटे हुए वैज्ञानिक उस सिद्धान्त की आलोचना करते हैं, उसे प्रयोग में लाते हैं और यदि वह सिद्धान्त उनकी कड़ी आलोचना और सूक्ष्म संपरीक्षा से भी खण्डित न हो तो वे उस अन्त में सिद्ध हुए सिद्धान्त को स्वीकार कर लेते हैं । ऐसे-ऐसे सफल सिद्धान्तों को अर्पित कर विज्ञान की वृद्धि करने का श्रेय बहुत कम वैज्ञानिकों को ही मिलता है । फिर फ्रायड जैसे जाति, जीवन और जगत की विचार-धारा को ही बदल देने वाले वैज्ञानिक तो कभी पचासों वर्षों में उत्पन्न होते हैं ।

मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में पहले-पहल सिद्धान्त रूप में इस बात को सिद्ध करने का श्रेय फ्रायड को ही प्राप्त है कि हमारी समस्त चेतन क्रियाओं के पीछे एक गतिपूर्ण अचेतन मन छिपा हुआ है । "प्रत्येक चेतन विचार अथवा क्रिया की जड़ें," फ्रायड लिखते हैं, "अचेतन मन में छिपी हुई हैं और इसीलिए चेतना की विचारधारा को ठीक रूप में समझने के लिए चेतन व्यवहार और उसके अचेतन साधनों का वास्तविक सम्बन्ध समझना आवश्यक है । अचेतन मन स्वभावतः

गतिपूर्ण है। इसमें दबी हुई इच्छाएं आत्मव्यक्ति के लिए लगातार संघर्ष करती रहती हैं। और यही वास्तव में हमारे चेतन मन की क्रियाओं को निर्धारित करती हैं। अचेतन मन के सम्मुख चेतना तो मानसिक सागर पर उठती हुई उन लहरों के समान है जो गहराइयों में बहती हुई धाराओं से निश्चित होकर आती हैं। डाक्टर स्टेनले हॉल ने इसकी तुलना सागर में बहते हुए एक ऐसे बर्फ़ के तोदे से की है जिसका आठवाँ हिस्सा पानी के ऊपर दिखाई देता हो और सात हिस्से पानी में—जबकि ऊपर दिखाई देने वाला एक हिस्सा चेतन मन हो और नीचे वाले सात अचेतन मन।

दिन-प्रतिदिन के अनुभव की बात है कि कई बार विचित्र विचार, अनिश्चित भावनाएं व प्रतिमूर्तियां, चिर-विस्मृत-स्मृतियां और असंगत विचार ऐसी सीमा तक चेतना में आ घुसते हैं कि उन्हें परे धकेलने के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। कई बार बाल्यकाल की चिर-विस्मृत स्मृतियां बेढब रूप धारण कर ऐसे आ उपस्थित होती हैं मानो उनकी अभी तक भी कोई आवश्यकता हो। एक बार मुझे एक मित्र ने बताया कि 'मैं तीन वर्ष की आयु में अपने मां-बाप के साथ दिल्ली गया। परन्तु मुझे बुखार हो जाने के कारण हम सब को तत्काल ही वहां से वापिस लौटना पड़ा। और आज तक—जबकि मेरी आयु लगभग ३५ वर्ष की हो चली है—उन दिनों की इस घटना का एक चित्र मेरे मन में रह-रहकर आ उपस्थित होता है, मैं देखता हूँ कि "हम दिल्ली की एक तंग-सी धर्मशाला की दूसरी मंजिल में ठहरे हैं और मैं नलके के नीचे नंगा बैठा नहा रहा हूँ।

चिरकाल तक नहाने के कारण मुझे बुखार चढ़ जाता है।"

प्रत्यक्ष है कि इस प्रकार हठपूर्ण बार-बार आने वाली इस स्मृति का चेतन मन से तो कोई सम्बन्ध नहीं। यह उस व्यक्ति की चेतन क्रियाओं को बेसुरा तो बेशक बना दे परन्तु और इसका कोई महत्व दिखाई नहीं पड़ता। तब हम सोचने लगते हैं कि आखिर इसका स्रोत और अर्थ तो अवश्य होगा। क्योंकि यह तो विज्ञान का मूल सिद्धान्त है कि कोई क्रिया बिना कारण के नहीं हो सकती।

दूसरी ओर वे चिर-विस्मृत-स्मृतियाँ हैं जो रोगियों को मनोविश्लेषण के समय अपने स्वतन्त्र सम्मेलन देते हुए याद आती हैं। बहुत-सी सैक्स तथा हिंसा-सम्बन्धी स्मृतियाँ हैं जो केवल मनोविश्लेषण द्वारा ही सफलतया कुरेदी जा सकती हैं। स्वभावतः प्रश्न उठता है कि ये पहले कहां थीं? यदि ये स्मृतियां मन में उपस्थित ही न थीं तो अब कहां से आईं? परन्तु अचेतन मन की सत्ता से इन प्रश्नों का उत्तर बहुत सहल हो जाता है। बहुत-सी इच्छाएं बाहरी बाधाओं से अवरुद्ध हो मन की तहों में डूब जाती हैं। परन्तु मन की तहों में डूब कर भी उनकी गति लोप नहीं होती और वे आत्मतुष्टि के लिए उदण्डतापूर्ण संघर्ष करती रहती हैं।

परन्तु ये चिर-विस्मृत स्मृतियां ही अचेतन मन की सत्ता के प्रमाण नहीं। इनसे भी अधिक प्रत्यक्ष प्रमाण हमें निद्राविभूतोपरान्त निर्देश क्रिया (Post hypnotic suggestion) से प्राप्त होता है जबकि विषय को निद्राविभूत अवस्था में कुछ दिनों पश्चात् कोई विशेष काम करने के लिए निर्देशित कर दिया जाता है और वह

निद्राविभूत अवस्था में न होते हुए भी ठीक समय पर निर्देशित कार्य करता है। जैसा कि एक बार एक व्यक्ति को निद्राविभूत कर, दस दिन पश्चात् ठीक रात के ग्यारह बजे इण्डिया-गेट पहुँचने का निर्देश दे दिया गया। दस दिन पश्चात् दस बजे से ही उसका अनुसरण किया गया। १०½ बजते ही वह बेचैन हो इधर-उधर घूमने लगा और ठीक ग्यारह बजे इंडिया गेट पहुँच गया। जब उसके उस समय वहाँ आने का कारण पूछा गया तो वह इधर-उधर की अगटशगट युक्तियाँ देने लगा। क्योंकि वास्तविक कारण उसकी चेतना से बहुत परे उस अचेतन मन में छिपा हुआ था जो चेतना की छिलके के समान क्षीण तह के नीचे छिपे हुए लावे के प्रचण्ड सागर के समान है और एक थपेड़े से ही जिधर चाहे हमारी चेतना को बहा ले जाता है।

बोल-चाल और लिखने की भूलें भी अचेतन मन के गुप्त प्रभाव का एक स्वरूप हैं। स्वयं भूलने की क्रिया भी बहुत महत्वपूर्ण है। यदि कोई व्यक्ति अपने दफ्तर की चाबियां दफ्तर जाते समय घर ही भूल आता है तो निश्चित है कि कुछ ऐसी मानसिक बाधाएँ हैं जो उसकी चेतन इच्छा शक्ति की स्वाभाविक क्रिया में रुकावट डाल रही हैं—अर्थात् मन का कोई अनभिज्ञ भाग चेतन मन पर गुप्त रूप से प्रभाव डाल रहा है।

मेरा एक मित्र आई० ए० एस० की परीक्षा दे रहा था। वह परीक्षा के लिए कोई खास तैयारी न कर पाया था। फिर भी उसने निश्चय किया कि सारे पर्चों में सम्मिलित अवश्य होगा। ३०

अक्तूबर को उसका अन्तिम पर्चा था ! उस दिन प्रातः उसने दो-एक बार ध्यानपूर्वक 'डेट शीट' पढ़ी और सोचने लगा कि 'आगामी वर्ष वह भी विश्व-इतिहास का विषय लेगा...अन्तर-राष्ट्रीय-न्याय बकवास है' । आज उसका अन्तर-राष्ट्रीय-न्याय ही का पर्चा था । उसने 'डेट शीट' बन्द करके जेब में डाल ली और साईकल पर सवार हो फर्राटे से वाई०एम०सी०ए० जा पहुँचा। परन्तु वहाँ ६-३० तक भी लड़कों को न आते देख वह कुछ घबराया और टहलता-टहलता चपड़ासी के पास गया, जिसने उसे बताया कि वहाँ तो ३ नवम्बर को पर्चा होगा। उसने शीघ्रता से जेब से 'डेट शीट' निकाल कर देखी तो चकित रह गया क्योंकि वहाँ तो सचमुच ही ३ नवम्बर को विश्व-इतिहास का पर्चा होना था । इससे सिद्ध होता है कि उसके मन का एक गूह्य भाग था जो पहले तो परीक्षा में सम्मिलित ही न होना चाहता था और यदि होना भी पड़े तो अन्तर-राष्ट्रीय न्याय की अपेक्षा विश्व-इतिहास को सहल मानता था। इसी शक्तिशाली गूह्य भाग को फ्रायड ने अचेतन मन का नाम दिया है ।

गणित-वेत्ताओं के साथ तो ऐसी घटनाएँ रोज़ ही होती हैं कि जिस प्रश्न का उत्तर ढूँढते-ढूँढते वे थककर शाम को छोड़ देते हैं अगले दिन प्रातः उसका उत्तर उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगता है । जिससे प्रतीत होता है कि प्रश्न हल करने का काम चेतन मन के छोड़ देने पर भी अर्ध-चेतन मन में जारी रहा । नामों के विषय में हम सब के साथ यही होता है । बहुत बार कोई नाम मन में उतरता है परन्तु शब्दों में परिवर्तित नहीं होता। कई बार फिर वह

बिल्कुल लोप हो जाता है और हज़ार प्रयत्न करने पर भी याद नहीं आता। परन्तु दिन में किसी समय बैठे-बैठे अचानक याद आ जाता है।

स्पप्न क्रिया इससे भी बड़ा प्रमाण है। स्वप्नोंको देख हम सोचने लगतेहैं कि यदि निद्रावस्था में—जब हमारी चेतना सो जाती है—कोई मानसिक क्रिया नहीं होती तो स्वप्न कहाँ से आते हैं? केवल इतना ही नहीं। महाकवि कोलरिज ने तो "कुबला खाँ" जैसी सुप्रसिद्ध कविता सारी-की-सारी स्वप्न में रची थी और प्रातः उठकर लिखी थी। यदि सोते समय हम मन को अकर्मण्य समझें तो इसे देव-वाणी के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता—और सम्भवतः वह भी नहीं; क्योंकि देव-वाणी को भी ग्रहण करने के लिए मानसिक शक्तियों का जागृत होना आवश्यक है। इसका एकमात्र हल यही है कि सोते समय भी मन का एक भाग जागृत रहता है—और वह है अचेतन तथा अर्ध-चेतन मन।

प्यासा सोया व्यक्ति अपने आप को स्वप्न में नदी पर उलटे हुए पानी पीते देखता है, सामाजिक क्षेत्र में तिरस्कृत व्यक्ति शान से ऐंठ कर चलता है, कायर वीरता के स्वप्न देखता है और बन्दी स्वतन्त्रता के। स्वप्नों की ये घटनाएँ एक ही सूत्र में पिरोई हुई हैं। और ये सभी द्रष्टा के जागृत जीवन की उन इच्छाओं की पूर्ति करती हैं जो मानसिक बाधाओं के कारण अतृप्त रह गई थीं। ये बाधाएँ क्या हैं इसका विस्तारपूर्वक उल्लेखन आगे स्वप्नों के खण्ड में किया जायगा। यहाँ तो हम केवल यह जानना चाहते हैं कि ये अतृप्त इच्छाएँ चेतना

से धकेली जाने पर गई कहाँ ? अर्थात स्वप्नों का मुख्य स्रोत कौनसा है ? ये रंग-बिरंगे धुँधले चित्र उठते कहाँ से हैं ? और यदि स्रोत हमारे मन का ही एक भाग नहीं तो हमारी भूत और वर्तमान स्मृतियाँ स्वप्न-चित्रों में कहाँ से गुँफित होती हैं ? क्या स्वप्नों का हमारे जीवन की भूतकालीन स्मृतियों को जानना ही काफ़ी प्रमाण नहीं कि उनका हमारे मन से अटूट सम्बन्ध है ? अचेतन मन के सिद्धान्त की व्याख्या से हमें ऐसे-ऐसे बहुत से प्रश्नों का सफल उत्तर मिलता है।

इन प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पूर्ण मानसिक क्रिया में चेतना का महत्व एक पड़ाव-मात्र से अधिक नहीं। हमारी इच्छाओं, आकांक्षाओं और अनुभूतियों का केन्द्र केवल चेतन मन ही नहीं बल्कि और भी हैं। एक विख्यात आधुनिक मनोवैज्ञानिक ने तो यहाँ तक कहा है कि 'हमारी मानसिक क्रियाएँ कभी भी अकेली चेतना से प्रेरित नहीं होतीं।' हमारी इच्छाओं, भावनाओं और विचारों को निश्चित करने वाली वे शक्तियाँ चेतना से कहीं बलवान और तीव्र हैं। आगामी पृष्ठों में मैं उन्हीं गूढ़ शक्तियों का उल्लेखन करूँगा यद्यपि स्थानाभाव के कारण विस्तृत व्याख्या कठिन है।

मानव-जीवन के विकास को फ्रायड ने—वैयक्तिक तथा जातीय दोनों रूपों में ही—वातावरण तथा व्यक्ति के परस्पर टकराव और उनकी प्रतिक्रियाओं की एक अटूट शृंखला के रूप में देखा है। उनके मतानुसार जाति और व्यक्ति प्रारम्भ में दोनों ही भोग और आनन्द के लिए संघर्ष करते हैं। परन्तु मानव रुचियों और इच्छाओं में अपने आप में ही इतनी प्रतिकूलताएँ हैं कि इस आनन्द-सम्बन्धी-नियम

(Pleasure principle) के सहारे जीवन में एक पग भी अग्रसर होना कठिन हो गया। इच्छाओं की पारस्परिक विमुखताओं से भी अधिक कठिनाई यह थी कि आनन्द-सम्बन्धी नियम का अनुसरण करते हुए परस्पर झगड़े अवश्यम्भावी हो जाते हैं। जाति का प्रत्येक जन चाहता था कि सारी स्त्रियों पर उसका शासन हो। वैयक्तिक जीवन में इसका प्रतिरूप शैशवावस्था में मिलता है जबकि शिशु अपने आपको सर्वशक्तिमान अथवा सृष्टि का केन्द्र समझते हुए वायु और सूर्य तक को आदेश देता है।

इच्छाओं की प्रतिकूलता और भावों की विमुखता के कारण आनन्द-सम्बन्धी-नियम के अनुयाइयों में परस्पर झगड़े होने लगे और जब वह जंगली दशा सभी के लिए असह्य हो गई तो जाति स्वयमेव जंगल-के-नियम से अग्रसर हो 'टेलियाँ नियम' का अनुसरण करने लगी। 'टेलियाँ नियम'—अर्थात हाथ का बदला हाथ और आंख का बदला आँख—मानव जाति के न्याय और धर्म के विकास में सम्भवत: पहला नियम था। जोकि मनुष्य के अबाध आनन्द-सम्बन्धी-नियम पर पहला और सबसे बड़ा वज्राघात था। इससे जातीय जीवन और मनुष्य की आन्तरिक प्रेरणाओं में एक अमिट संघर्ष आरम्भ हो गया। व्यक्ति अपने छोटे से जीवन में जातीय जीवन के विकास की ये सभी अवस्थाएँ पार करता है। सुख-दुख नियम (Pleasure-pain-principle) की लय में बहता हुआ शिशु महीनों और वर्षों के निरन्तर संघर्ष से वास्तविकता-नियम (Reality principle) तक पहुँचता है। आग को देखते ही

उसके सौन्दर्य पर मुग्ध हो और उसके स्पर्श से आनन्द उठाने की इच्छा उसमें पहले से ही होती है परन्तु उसके 'जला देने' वाले गुणों से वह जलकर ही परिचित होता है।

जीवन की वास्तविकता और मनुष्य की आनन्द-सम्बन्धी जंगली प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष ने एक ओर तो मनुष्य की आनन्द-सम्बन्धी प्रवृत्तियों की रूप-रेखाएँ और साधन बदल दिये और दूसरी ओर वास्तविक जीवन को संस्कृति, सभ्यता और धर्म के भाँति-भाँति के नियमों में जकड़ दिया। इस प्रकार वातावरण और मानसिक प्रवृत्तियों के पारस्परिक संघर्ष से जंगली मानव-मन का जो भाग बाहिरी जगत से प्रभावित हुआ—उसे हम चेतन मन कहते हैं। चेतना के विकास से जंगली मानव-मन और बाहिरी जगत में परस्पर सन्धि होनी आगे से सहल हो गई और धीरे-धीरे चेतना का विस्तार क्षेत्र बढ़ने लगा। चेतना के विस्तृत प्रभाव के साथ-साथ अचेतन मन पर भी निषेध-प्रतिषेध बढ़ते गए जिससे संस्कृति, सभ्यता और धर्म के नियम और भी जटिल और प्रभावशाली हो गए। फलस्वरूप अचेतन मन को आत्म-तुष्टि के लिए नए-नए स्वस्थ-अस्वस्थ तथा स्वाभाविक-अस्वाभाविक साधनों का आश्रय लेना पड़ा। युद्ध, भूख, उन्माद, सामूहिक आत्महत्या तथा नाना प्रकार के अस्वस्थ वेषों में व्यक्त होते हुए उसी जंगली मन की उद्दण्डता से त्रस्त मानव जाति आज भी जीवन-मरण की सूक्ष्म रेखा पर खड़ी उद्विग्नता पूर्ण आकाश की ओर झाँक रही है।

मन की व्याख्या फ्रायड ने, आकारात्मक और विश्लेषणात्मक,

दो दृष्टिकोणों से की है। आकारात्मक दृष्टिकोण से व्याख्या करते हुए उन्होंने इसे तीन भागों में बाँटा है अर्थात चेतन, अर्धचेतन और अचेतन।

चेतन मन का बाहिरी जगत से सीधा सम्बन्ध है और यह आन्तरिक प्रेरणाओं को जीवन के सांचे में ढालता है। यदि हमारे मन में चोरी की इच्छा उठती है तो सहसा ही चेतना पुकार उठती है—'अरे दुष्ट, चोरी धार्मिक पाप है....समाज तुझे कारावास भेज देगा...कर्मों का फल भुगतना पड़ेगा यदि इस जगत में नहीं तो परलोक में....आदि।'—और हम ठिठक जाते हैं। इस दृष्टिकोण से हम चेतना को बाहिरी जगत का आन्तरिक प्रतिबिम्ब कह सकते हैं।

अर्धचेतन वह है जो चेतना के बिल्कुल निकटवर्त्ती है और आसानी से चेतनीय है—अर्थात जो चेतना से तनिक दूर हो गया है परन्तु गतिपूर्ण रूप में अचेतन नहीं है। वास्तव में इसकी विशेष निजी सत्ता कोई नहीं बल्कि यह तो अचेतन मन से चलकर चेतना में व्यक्त होने वाले भावों की, व्यक्त होने से पूर्व एक अवस्था है। जिन भावों को चेतना में व्यक्त होने से रोक दिया जाता है वे यहीं से वापिस हो लेते हैं। परन्तु जो इच्छाएँ चेतन मन के सामाजिक तथा धार्मिक नियमों के प्रतिकूल नहीं होतीं इसमें आकर मौखिक रूप धारण कर लेती हैं—क्योंकि अचेतन मन की इच्छाओं और अनुभूतियों को मौखिक रूप प्राप्त नहीं होता। अचेतन मन की वासनाएँ गतिपूर्ण शक्तियों के रूप में संघर्ष करती हैं। यद्यपि अर्धचे मन में—जैसा

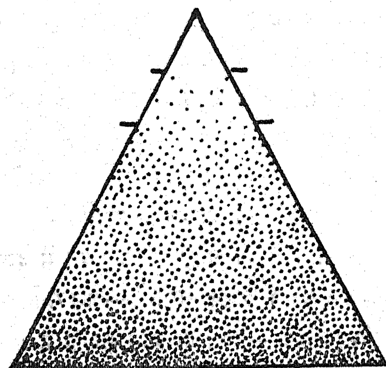
कि मैंने पहले भी उदाहरण दिया है—गणित के प्रश्नों को हल करने जैसे अनुसन्धानपूर्ण काम भी होते रहते हैं।

अचेतन मन इन दोनों भागों से बहुत विस्तृत और शक्तिशाली है। वह चेतना के इतना निकट होते हुए भी प्रतिकूलता के कारण इतना दूर है कि साधारणतया चेतना उसे जान ही नहीं सकती। इसी लिए हम उसकी सत्ता केवल नाना प्रमाणों से ही सिद्ध कर सकते हैं चेतना की नाईं उसे स्पष्टतया अनुभव नहीं कर सकते। फ्रायड के मतानुसार अचेतन मन के तीन आवश्यक गुण हैं—

१. यह ज्ञानेन्द्रिय चेतना से दूर गतिपूर्ण रूप में दबा हुआ है।
२. चेतना इसे केवल विशेष साधनों—जैसे मनोविश्लेषण अथवा निद्राविभूतक्रिया—द्वारा ही जान सकती है।
३. इस पर इच्छा-शक्ति का कोई ज़ोर नहीं।

परन्तु चेतना से इतना दूर होते हुए भी अचेतन मन हमारे सारे कार्यों का उद्गम है। हमारे व्यक्त मन में चलने वाली अनेक विचार-धाराएँ यहीं से निश्चित होकर आती हैं। हमारे स्वप्नों, भूलों, त्रुटियों, मानसिक रोगों और धुँधली उद्विग्नता का मूल स्रोत भी यही है। चेतना द्वारा दमन की गई—देश-काल-परिस्थिति के प्रतिकूल—सभी वासनाएँ इसमें आ विराजमान होती हैं। यह हर प्रकार की असामाजिक, असांस्कृतिक और पाशविक भावनाओं का केन्द्र है। चेतना को हर समय इस बात से सचेत रहना पड़ता है कि कहीं इससे उठती हुई उद्दण्ड इच्छाएँ मौका पाकर व्यक्त न हो जायँ। चेतना के विरोध से बचने के लिए ही वे सर्वदा रूपान्तर से व्यक्त होती हैं।

समझने में आसान बनाने के लिए, मन के इन तीन भागों को निम्न ग्राफ़ के रूप में अंकित किया जा सकता है—



परन्तु इस प्रकार के विभाजन से यह समझना एक भारी भूल होगी कि मन में अलमारी की नाईं कोई तीन खाने बने हुए हैं। वास्तव में यह विचारधारा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। इनमें कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती कि अमुक स्थान पर अचेतन मन समाप्त होता है। और अर्धचेतन आरम्भ होता है। मन सर्वथा निराकार है। उसे ग्राफ़ों का रूप तो केवल समझने में आसान बनाने के लिए दिया जाता है।

विश्लेषणात्मक रूप में भी फ्रायड ने मन को अहम्भाव, 'इड' और सुपरि-अहम तीन भागों में बाँटा है।

अहम्भाव मानसिक क्रियाओं की उचित व्यवस्था और

नियन्त्रण से सम्बन्धित है। इसमें चेतना सम्मिलित है और आन्तरिक उत्तेजनाएँ भी इसी के द्वारा बाहिरी जीवन में व्यक्त होती हैं। यही वह संस्था है जो मन की वैधानिक क्रियाओं का नियन्त्रण करती है और सोते समय विश्राम करती है—यद्यपि विश्राम करते हुए भी इसका एक भाग स्वप्नों को 'सैंसर' करता रहता है। यही संस्था हमारी इच्छाओं पर दमन के वज्राघात करती है जिससे मन की बहुत-सी धाराएँ केवल चेतना में ही व्यक्त होने से नहीं बल्कि किसी भी क्रिया रूप में परिणत होने से रोक कर दमन कर दी जाती हैं। संक्षेप में, मन का यह भाग बाहिरी जगत की वास्तविकता के विषय में सबसे अधिक सचेत है और लगातार, आन्तरिक प्रेरणाओं को बाहिरी जगत के अनुकूल ढालता रहता है। इसीलिए उद्विग्नता की भावनाओं का केन्द्र भी यही है। जब कोई आन्तरिक प्रेरणा इतनी तीव्र हो जाय कि दमन करना कठिन हो तो अहम्भाव उद्विग्न हो उठता है। मान लो, किसी व्यक्ति के मन में अपने किसी घनिष्ट मित्र की पत्नि अथवा बहिन आदि के प्रति वासना की तीव्र भावनाएँ उत्पन्न हो जाएँ तो उसका मन चकरा जायगा—एक ओर समाज के नियम और उनका उलंघन करने के दुष्परिणाम और दूसरी ओर अदमनीय आन्तरिक उत्तेजना अर्थात् एक ओर कुआँ और दूसरी ओर खाड़ी। ऐसी कठिन स्थिति में उस व्यक्ति के अहम्भाव की जो दुर्दशा होती है वह सचमुच दयनीय है—नारी के नाम से उसका शरीर काँपने लगता है, स्त्रियों के संपर्क से दूर भागता है, और यदि विकार भावनाओं का ज़ोर बढ़ जाय तो भाग कर जंगलों में पनाह लेता है अर्थात सन्यासी

बन जाता है। क्योंकि अहम्भाव के लिए अनुभूति के दबाव से बचने के लिए प्रेरकों से दूर भागने से अच्छा और कोई रास्ता नहीं। इस लिहाज़ से आन्तरिक उत्तेजनाओं, बाहिरी जगत और सामाजिक नियमों का उचित संतुलन ही अहम्भाव का मुख्य कार्य है। जिस व्यक्ति का अहम्भाव बाहिरी जगत और सामाजिक नियमों के बन्धनों में रहते हुए अपनी आन्तरिक प्रेरणाओं को अधिक-से-अधिक संतुष्ट कर सके उसका अहम्भाव सुदृढ़ समझना चाहिये। ऐसा अहम्भाव साधारणतया कलाकारों का होता है जो अपनी अचेतन अनुभूतियों को विश्व स्वीकृत कल्पनाओं द्वारा व्यक्त करने का सामर्थ्य रखते हैं।

'इड़'—आन्तरिक प्रेरणाओं और मानसिक शक्ति के स्रोत को फ्रायड ने 'इड़' का नाम दिया है। 'इड़' बाहिरी जगत की वास्तविकता के विषय में पूर्णतया अनभिज्ञ है। अहम्भाव अपने शीशे द्वारा इस पर बाहिरी जगत का अक्स फेंकता है परन्तु इसमें देखने की शक्ति नहीं। यह जंगली, असामाजिक और हठी प्रकृति का है। इसे स्थान और काल का कोई बोध नहीं। इसके लिए बीस वर्ष पूर्व अथवा आज हुई घटनाओं में कोई अन्तर नहीं। हो सकता है, बीस वर्ष पूर्व हुई घटना इसमें अधिक स्वच्छन्दता से अंकित पड़ी हो। इसकी कल्पनाओं पर सोचने के नियम लागू नहीं होते और न यह प्रतिकूलता नियम (Law of opposites) से परिचित है। इसीलिए एक व्यक्ति इसकी घृणा और प्रेम दोनों का पात्र हो सकता है। यह क्रूर, अन्धी गतिपूर्ण और दमन की हुई प्रज्वलित वासनाओं के धधकते हुए 'बायलर' के समान है। अहम्भाव द्वारा दमन की गई हर प्रकार की

इच्छाएँ तथा अनुभूतियाँ इसी में आ केन्द्रीभूत होती हैं और इसका सर्वोत्तम नियम उनकी तुष्टि है।

'इड़' को बाहिरी जगत के नियमों के अनुसार प्रभावित करना अहम्भाव का कार्य है।—अर्थात् वही 'इड़' के सुख दुख नियम को वास्तविकता नियम से प्रभावित करता है। 'इड़' अनुभूतियों पर निर्धारित है जब कि अहम्भाव ज्ञानेन्द्रियों से सम्बन्धित है। 'इड़' में अन्धी वासनाएँ राज्य करती हैं परन्तु अहम्भाव ज्ञान और बुद्धि का अनुयायी है। अहम्भाव और 'इड़' के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए फ्रायड लिखते हैं कि 'अहम्भाव' और 'इड़' का घोड़े और घोड़े पर सवार एक ऐसे घुड़सवार का सम्बन्ध है जिसे अपने आप से बलवान घोड़े को वश में रखना पड़ता हो। अन्तर केवल इतना ही है कि सवार में निजी बल होता है परन्तु अहम्भाव को वह बल भी 'इड़' से उधार लेना पढ़ता है—क्योंकि अहम्भाव तो 'इड़' का ही एक भाग है जो बाहिरी जगत से प्रभावित हो बदल गया है। मानसिक बल का मूल स्रोत तो अब भी 'इड़' ही है। 'इड़' पर इच्छा-शक्ति और नियन्त्रण का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

सुपरि-अहम्—मन के तीसरे भाग अथवा क्रिया को फ्रायड ने सुपरि-अहम् का नाम दिया है। साधारणतया हम सभी अनुभव करते हैं कि कई बार हमारे मन का एक भाग कोई कार्य करना चाहता है परन्तु दूसरा उसका विरोध करता है—उसकी छान-बीन करता है और कई बार कई कामों के लिए हमें कोसने लगता है। यह चेतन सुपरि-अहम् है जो हमारे चेतन अहम्भाव की छान-बीन करता है। इसका

अचेतन भाग बहुत गहरा और जटिल है और उसे समझने के लिए मानसिक क्रियाओं के सूक्ष्म निरीक्षण की आवश्यकता है।

सुपरि-अहम् सभ्यता, संस्कृति और धर्म के नियमों का सार है जो परम्परा से अद्वितीय और अदृश्य मानसिक परिक्रियाओं द्वारा एक वंश से दूसरे को प्राप्त होता आया है। ऐसे प्रतीत होता है मानो मन का एक भाग ही धर्म और समाज के नियमों के प्रभाव से परिवर्तित हो गया और मानव ने अपनी जीवन-रक्षा हेतु उसे स्वीकार कर लिया। व्यक्तिगत विकास की शैशव कालीनअवस्था में जब शिशु सर्वथा अपने माता-पिता पर आश्रित होता है तो उसकी क्रियाएँ माँ-बाप का प्यार खो-जाने के भय से निर्धारित होती हैं। कोई भी ऐसा कार्य करते हुए, उसे डर लगता है जिससे माँ-बाप का प्यार खो जाने की आशंका हो। माँ-बाप उसके लिए सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक होते हैं। उसके ज़रा-सी 'चूं' करने पर वे तरह-तरह की सुखदायी वस्तुएँ उसके सामने ला उपस्थित करते हैं। ऐसी दशा में उनके प्रेम से वंचित होने की तो वह कल्पना भी नहीं कर सकता। इसलिए माता-पिता को प्रसन्न करना ही उसके लिए सर्वोत्तम होता है। माँ-बाप को प्रसन्न करने के लिए उनके आदेशानुसार अच्छा बनना आवश्यक है। अच्छा बनने का अर्थ है धर्म और समाज के नियमों का पालन करना। और धीरे-धीरे—साफ़ रहो; गाली देना पाप है; जैसा कर वैसा मर; झूठ मत बोलो आदि—धर्म और समाज के अनेकों नियम उसके सुकुमार मन पर पत्थर की लकीर की नाई अंकित हो जाते हैं और उसके वैयक्तिक अचेतन सुपरि-अहम् का हिस्सा बन जाते हैं।

ज्यों-ज्यों शिशु बड़ा होने लगता है, निष्फलता के कारण उसे अपनी प्रेम प्रवृत्तियां माँ-बाप से हटाकर अन्दर खेंचनी पड़ती हैं। वह अपने अहम्भाव में ही एक पैत्रिक संस्था कायम कर लेता है और बाहर से खेंची हुई इन प्रेम-प्रवृत्तियों की शक्ति उस पैत्रिक संस्था की सेवा में जुट जाती है। इसी मानसिक क्रिया के आधार पर फ्रायड ने लिखा है कि सुपरि-अहम् 'ईड़ीपस-ग्रन्थि' का उत्तराधिकारी है। इस क्रिया के निरीक्षण से ऐसा प्रतीत होता है मानो मां-बाप ही पूर्ण रूप में अन्तरीकरण (Introject) हो मन में जा विराजते हैं। परन्तु इस पैत्रिक-संस्था के आदेश देने का ढंग मां-बाप से कहीं अधिक जंगली और क्रूर है। क्योंकि इसके स्थापित होते ही 'इड़' की ध्वंसात्मक प्रवृत्तियां (Sadistic) इसमें आ सम्मिलित होती हैं, जिससे इसकी तीव्रता अत्यधिक बढ़ जाती है। 'इड़' से बल प्राप्त कर यह 'इड़' को ही कोड़े लगाता रहता है। इसका मुख्य कार्य अहम्भाव को 'इड़' भावनाओं से सुरक्षित तथा सचेत रखना है—क्योंकि मूलत: यह अहम्भाव का ही एक भाग है जो उससे अलग हो गया है, बिल्कुल उसी प्रकार जैसे स्वयं अहम्भाव एक समय 'इड़' से पृथक् हुआ था।

मैंने पहले भी लिखा है कि सुपरि-अहम् का बहुत बड़ा हिस्सा अचेतन है और मन की गुह्य तहों में ही 'इड़' से संघर्ष करता रहता है। उद्विग्नता, उदासीनता, क्षोभ और तरह-तरह के मनोविकार इसी गुह्य संघर्ष के बाहरी चिह्न हैं। कई बार बिना कारण ही मनुष्य उदास हो जाता है—बाज़ार में जाता डरता है, रेस्तोरां में जाता

है तो उद्विग्नता से कँपकँपाने लगता है। और जब वह इन सब घटनाओं का कारण ढूंढता है तो उसका मन चकरा उठता है क्योंकि इनका वास्तविक कारण तो मन की तहों में छिपा हुआ 'इड़' और सुपरि-अहम् का संघर्ष है। बाहरी अवस्थाएं तो उसके चिह्न मात्र हैं। वह बाज़ार में चलते-फिरते अथवा रेस्तोरां में बैठे लोगों से नहीं बल्कि मन की गहनता में छिपे काल्पनिक चित्रों अथवा अपनी असामाजिक प्रवृत्तियों की तीव्रता से डरता है।

रात के समय जब अहम्भाव सो जाता है, सुपरि-अहम् पहरेदार की नाईं जागता रहता है। यही कारण है कि दबी हुई इच्छाएं स्वप्नों में भी भेस बदल कर व्यक्त होती हैं। सुपरि-अहम् का अधिकतर भाग अचेतन है और इसीलिए अहम्भाव से कहीं अधिक 'इड़' के निकट है और उसकी क्रियाओं से परिचित है। बहुत-सी इच्छाएं जो अहम्भाव को सरल साधारण प्रतीत होती हैं सुपरि-अहम् के लिए बहुत भयानक और रुद्र रूप की सूचक होती हैं और वह उन्हें कभी आगे आने की आज्ञा नहीं देता। कई बार जब ऐसी इच्छाएं इसे भुटलाकर अथवा ठग कर व्यक्त हो जाती हैं तो अहम्भाव की बहुत दुर्दशा होती है—और वह उद्विग्नता से कँपकँपा उठता है। एक आदमी को स्वप्न आया कि 'कोई एक व्यक्ति मर गया है और वह उसकी अर्थी के साथ-साथ शमशानभूमि की ओर जा रहा है। स्वप्न में ही वह हाहाकार रोदन कर रहा है और रोते-रोते भय और उद्विग्नता के कारण जाग जाता है।' उसके स्वप्न का विश्लेषण करने पर उसकी स्वतन्त्र-सम्बन्ध-धारा से सिद्ध हुआ कि वह अर्थी

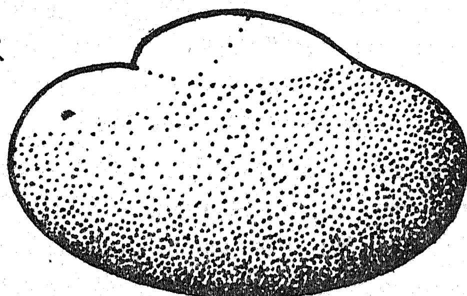
उसके पिता की मृत देह थी। इसे पर-पुरुष का रूप 'इड़' ने केवल सुपरि-अहम् को धोका देने के लिए दिया था। परन्तु इच्छा का वास्तविक रूप पहचानते ही उसकी अधार्मिकता और असामाजिकता के कारण सुपरि अहम् सटपटा उठा और सुपरि-अहम् के प्रकोप से भयभीत अहम्भाव विकार भावनाओं से त्रस्त हो कँपकँपाने लगा।

सुपरि-अहम् क्रूर तथा निर्दयी है और हर अचेतन इच्छा का पूरे ध्यान से निरीक्षण करता है परन्तु फिर भी बहुत-सी इच्छाएं नाना भेस बदलकर इसे धोका देने में सफल हो जाती हैं। निस्सन्देह कुछ अचेतन इच्छाओं का व्यक्त होना आवश्यक भी है क्योंकि सुपरि-अहम् के अत्यधिक क्रूर होने से सदा व्यक्तित्व के छिन्न-भिन्न होने का भय रहता है। स्वस्थ व्यक्ति वही है जो 'इड़' में दबी अधिकाधिक इच्छाओं को समाज तथा धर्म के प्रतिबन्धों में रहते हुए सन्तुष्ट कर सके।

सुपरि-अहम् यद्यपि वातावरण से प्रभावित होता रहता है परन्तु जो गुण इसे पैत्रिक ग्रन्थि से प्राप्त होते हैं—जैसे अहम्भाव से दूर खड़े हो अहम्भाव पर ही शासन करना—आजीवन इसमें उसी प्रकार सबल रहते हैं। इसी बात की व्याख्या करते हुए अर्नेस्ट जोनस लिखते हैं कि 'सुपरि-अहम् एक प्रकार से अहम्भाव की शैशव-कालीन क्षीणता और आश्रय-लालसा का स्मारक है जिसका प्रभाव अहम्भाव के सुदृढ़ हो जाने पर भी कायम रहता है। जिस प्रकार बाल्यकाल में, बालक अपने माँ-बाप की आज्ञा का पालन करता था

उसी प्रकार बाद में अहम्-भाव सुपरि-अहम् के अनिवार्य आदेश को स्वीकार करता है। सुपरि-अहम् भी उसी प्रकार व्यक्ति की रक्षा और आश्रय लालसा पूरी करता है जिस प्रकार एक समय माता-पिता और फिर विधि तथा भाग्य करते हैं।

मन के इन तीनों भागों को निम्न रूप दिया जा सकता है।



सम्भव है बहुत से पाठकों को इस प्रकार की व्याख्या देवी-देवताओं की कथाओं की नाईं प्रतीत हो जहाँ कि भिन्न-भिन्न देवताओं को भिन्न भिन्न कार्य सौंप दिये जाते थे परन्तु जैसा कि मैं ने पहले भी लिखा है ऐसा समझना भारी भूल होगी। एक नये सिद्धान्त को निराकार रूप में समझना कई बार कठिन हो जाता है और फिर अचेतन मन की व्याख्या ही धुंधली रह जाय तो मनोविश्लेषण के शेष सभी सिद्धान्तों को समझने में कठिनाई आती है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए बार-बार साकार रूपों और रेखा-चित्रों का आश्रय लेना पड़ता है।

स्वप्न हमारी अव्यक्त भावनाओं के प्रतिबिम्ब हैं।

स्वप्नों के विषय में जनसाधारण का विचार बड़े विचित्र रूप से कल्पना पर निर्धारित तथा अस्थायी है। एक ओर तो वे स्वप्नों को अर्थहीन, व्यर्थ कल्पनाओं की गुत्थी समझते हैं और दूसरी ओर उनके अर्थ की अवहेलना करने की शक्ति भी उनमें नहीं हैं। साधारण लोग तो इस बात को सर्वसत्य मानकर चलते हैं कि स्वप्नों का अलौकिक जगत से घनिष्ट सम्बन्ध है और वे देवताओं तथा दानवों द्वारा प्रेरित होते हैं। इसमत का स्वाभाविक परिणाम है कि वे उन्हें दैवीय गुणों से सम्पन्न मानते हैं। उनके विचारानुसार देवी-देवताओं द्वारा प्रेरित होने के नाते स्वप्नों का भविष्यवक्ता होना बिल्कुल भी कठिन नहीं। देवी-देवता तो मनुष्य के भविष्य के ज्ञाता ही नहीं बल्कि भाग्य के निर्माता भी हैं। अतः वे मनुष्य के विषय में प्रत्येक काम करने से पहले उसको सावधान कर देते हैं और स्वप्न भी एक ऐसा ही साधन है जिसके द्वारा हमें अपने भविष्य की सूचना मिलती है, अर्थात् स्वप्न मनुष्य को देवताओं और दानवों की विचारधारा तथा

कार्यपद्धति से सूचित करते हैं। उनके ये सब मत इस बात की पुष्टि करते हैं कि स्वप्न भविष्यवाणी के रूपान्तर हैं। इस मत में थोड़ी-सी सचाई भी है क्योंकि जब स्वप्न मनुष्य की समस्याओं को उसके आदर्शों से सम्बन्धित करते हैं तो प्राय: मनुष्य उसकी प्राप्ति के लिए स्वप्न में स्वयं को तैयार करता है अर्थात् स्वप्न को वास्तविक बनाने की चेष्टा करता है। इसीलिए कई बार उसके स्वप्नों का सच हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इसके अतिरिक्त यह मत इस भावना की भी पुष्टि करता है कि प्रात:काल जब स्वप्न देखने के पश्चात् मनुष्य जागता है तो उसे ऐसा अनुभव होता है जैसे स्वप्न का मानसिक जीवन, जागृत मानसिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं रखता—स्वप्न-जीवन तो किसी और ही बाहरी जगत से प्रोत्साहित होता है। 'मैलिनास्की' अपनी पुस्तक "सैक्स और जंगली समाज" में लिखते हैं कि त्रोबृयांडरज़ अब तक स्वप्नों का मूलाधार अलौकिक शक्तियों को ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त हमारी अपनी समाज में भी इस मत के अनुयायियों की कमी नहीं।

जब मैं सात आठ वर्ष की एक बच्ची ही थी तो एक बार मैंने स्वप्न में देखा कि मैं घर जा रही हूँ और मार्ग में मेरे सम्मुख सोने के ढेरों के ढेर पड़े हैं। मुझसे जितना सोना उठाया गया—घर ले गयी। प्रात:काल बिस्तर से उठते ही, बड़े उत्साहपूर्वक मैंने यह सुखद स्वप्न अपनी माँ को सुनाया। सुनते ही वे कुछ उद्विग्न हो बोलीं—

"ओह ! बड़ा बुरा स्वप्न है यह तो । खैर रहे । मुझे तो डर है कि कहीं तुम बीमार न हो जाओ ।"

अपने स्वप्न का यह अर्थ सुन मेरा मन सिहर उठा और मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो मुझमें कोई भयानक तत्व प्रवेश कर रहा है । दूसरे दिन मैं यथार्थ में ही बीमार पड़ गई। आश्चर्यान्वित हो मेरी माँ बोली : "देखा, मैंने पहले ही न कह दिया था ? ऐसे स्वप्नों का परिणाम सर्वदा हानिकारक होता है ।" समय की गति ने मुझे बताया कि यह मत केवल मेरी माँ तक ही सीमित नहीं, बल्कि जनसाधारण की स्वप्नों के विषय में यही धारणा है । उनके मतानुसार सुखद स्वप्नों का परिणाम दुःखद और दुःखद स्वप्नों का परिणाम सुखद होता है । अतः स्वप्नों का अर्थ उनके विपरीत होता है।

कुछ ही काल पहले तो इस विषय में मनोवैज्ञानिक व्याख्या भी बहुत अपूर्ण तथा असन्तोषजनक थी । प्रायः इस विषय में दो मत थे । एक लाक्षणिक स्वप्न व्याख्या तथा दूसरी चिह्नात्मक स्वप्न व्याख्या । लाक्षणिक स्वप्न व्याख्या के विषय में एरिस्टोटल कहते हैं "स्वप्नों का सिद्ध विश्लेषक वह है जो भावों तथा घटनाओं की समानता को भली भांति पहचान सके । पानी के सिहरते हुए प्रतिबिम्बों की नाईं स्वप्न दृष्य भी धुंधले होते हैं । जो इन धुंधले दृष्यों में से वास्तविकता को समझ सके, वही श्रेष्ठ विश्लेषक है ।" यह मत किसी स्थिर नींव पर निर्धारित न था । इसके अतिरिक्त धुंधले और उलझनभरे स्वप्नों के विश्लेषण में यह मत सर्वथा असफल

सिद्ध हुआ। दूसरे साधन अर्थात् चिह्न पद्धति द्वारा स्वप्नों को एक रहस्यपूर्ण कोड के रूप में देखा जाता है।

१६वीं शताब्दी में द्रव्यवाद के प्रभाव से एक तीसरे साधन का अन्वेषण हुआ। शरीर विज्ञान वेत्ताओं का कथन था कि स्वप्न पेट की गड़बड़, शारीरिक अस्वस्थता, रक्त प्रवाह तथा बाहरी वातावरण के परिवर्तनों व शारीरिक क्रियाओं आदि के परिणामस्वरूप आते हैं। इस मत को सिद्ध करने के लिए बहुत से व्यक्तियों को सुलाकर उन पर प्रयोग किये गए। एक बार एक व्यक्ति को सुलाकर, सुप्तावस्था में उस पर पानी के छींटे डाले गए और उसे जगाया गया। जागने पर उसने बताया कि वह उस समय ऊष्ण रेगिस्तानों में विचरण कर रहा था, परन्तु पानी गिरते ही वह बर्फ़ानी पहाड़ों पर पहुँच गया। इन प्रयोगक्रियाओं तथा इनसे सिद्ध हुए मत से विश्लेषण विज्ञान में बहुत वृद्धि हुई और हमें स्वप्नों में शारीरिक अंश का ठीक ठीक पता चल गया। यद्यपि यह मत भी स्वप्नों की मानसिक धारा को सुलझाने में अपूर्ण रहा।

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि यदि स्वप्न शारीरिक अवस्थाओं पर ही अवलम्बित हैं तो उनमें संवेगों का इतना उतार-चढ़ाव क्यों होता है? इसी प्रश्न पर फ्रायड महोदय की स्वप्नों की व्याख्या निर्धारित है। उनका मत है कि स्वप्न मनुष्य की अज्ञात मन में दबी हुई इच्छाओं की पूर्ति के साधन हैं अर्थात् स्वप्न शारीरिक अवस्थाओं द्वारा ही प्रेरित नहीं होते बल्कि उनका मानसिक भावनाओं से अटूट

सम्बन्ध है। फ्रायड ही पहले वैज्ञानिक थे जिन्होने बताया कि मानसिक जीवन में स्वप्नों का कितना महत्व है।

साधारणतया हम स्वप्नों को दो भागों में बांट सकते हैं। प्रत्यक्ष में इच्छापूर्ति के स्वप्न और अप्रत्यक्ष में इच्छापूर्ति के स्वप्न—अर्थात् वे स्वप्न जो देखने में तो दुःखदायी प्रतीत होते हैं परन्तु विश्लेषण करने पर वे दबी हुई इच्छाओं की पूर्ति के साधक ही प्रमाणित होते हैं। पहली प्रकार के स्वप्न दूसरों की अपेक्षा बहुत सरल तथा साधारण हैं। प्यासे को पानी, भूखे को स्वादिष्ट पकवानों और कायर को वीरता प्रदर्शन के स्वप्न आते हैं। फ्रायड अपनी पुस्तक में लिखते हैं—"एक ऐसा स्वप्न है जिसे, मैं जब चाहूँ, प्रयोगक्रियारूप में दोहरा सकता हूँ। जिस दिन रात को मैं नमक मसाले वाले पदार्थ खा लेता हूँ, उसी रात मुझे प्यास लगती है, जिससे निद्रा भंग हो जाती है और जागने से पूर्व प्रायः मुझे एक स्वप्न आता है, जिसका सर्वदा एक ही विषय होता है—'मैं पानी के बड़े-बड़े घूंट पी रहा हूँ और वे मेरे सूखे हुए गले को ठंडी बीयर की तरह रोचक लगते हैं। तब मेरी निद्रा टूट जाती है। यह स्वप्न मुझे सर्वदा प्यास के कारण ही आता है।'

बहुधा लोगों को इस प्रकार प्यासा सो जाने पर पानी के स्वप्न आते है। विद्यार्थियों को परीक्षा के निकट परीक्षा की समाप्ति तथा उसमें सफल हो जाने के स्वप्न आते हैं।

बच्चों के स्वप्न इच्छापूर्ति के इससे भी सरल उदाहरण हैं। बच्चों को प्रायः उन चीजों के स्वप्न आते हैं, जो उन्हें दिन को

नहीं मिल सकीं। एक ९ वर्ष की कन्या को साइकिल लेने का बहुत चाव था। उसने अपने पिता से साइकिल खरीदने के लिए अनुरोध किया, परन्तु उन्होंने टालमटोल कर दिया—उसी रात उस कन्या ने स्वप्न में देखा कि वह नहर के किनारे साइकिल पर बड़ी तेजी से पैडल मारती चली जा रही है। वह साइकिल लेना चाहती थी—और कितनी आसानी से उसने स्वप्न में पा ली। यदि स्वप्नों का सुखद संसार न होता तो मनुष्य के लिए जीवन कितना कठोर और असह्य हो जाता! पौराणिक कथाओं में कल्पवृक्ष के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है। कल्पवृक्ष के रहस्य के विषय में तो हम नहीं जानते कि वह सत्य है अथवा मिथ्या—परन्तु स्वप्न एक ऐसा कल्पवृक्ष अवश्य है जो मनुष्य की समस्त इच्छाओं की पूर्ति का केन्द्र है।

एक सवा तीन वर्ष की कन्या अपने माता-पिता के साथ नाव में झील पार करके दूसरे किनारे पर गई। नाव शीघ्र ही उस पार पहुँच गई। उस बालिका को नाव की सैर बहुत प्रिय लगी और वह चिरकाल तक नाव ही में बैठना चाहने लगी। जब नाव रुकी—तो माता ने उसे उतरने को कहा—जिस पर वह बहुत झल्लाई। दूसरे दिन प्रातःकाल उसने अपना स्वप्न सुनाया कि वह बहुत-सी सहेलियों के साथ स्वप्न में नाव की सैर को गई—और रात-भर सैर करती रही।

बालपन की अपेक्षा युवावस्था में सरल इच्छापूर्ति के स्वप्न भी अधिक पेचीदा होते हैं। एक मित्र ने अपने कारावास के पहले ही दिन का एक स्वप्न सुनाया।

"मेरे कस्बे के पश्चिमी ओर एक अथाह समुद्र करोलें मार रहा हैं। मैं यहाँ नाव की सैर करने आया हूँ। अभी किनारे के समीप ही हूँ कि सागर में ज्वार आ जाता है और उसकी अशान्त ऊँची-ऊँची तरंगें आकाश को छूने लगती हैं—पानी के तीव्र बहाव से मेरी नाव उलट जाती है—मेरे बचने की कोई आशा नहीं रहती। तब मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि यदि वह मुझे इस बार बचा दे तो भविष्य में कभी सागर की ओर मुंह न करूँगा। सहसा समुद्र शान्त हो जाता है। अब वही समुद्र नदी में परिवर्तित हो जाता है और मैं देखता हूँ कि अचानक मैं उसके दूसरे किनारे पर पहुँच गया हूँ।" यह स्वप्न चिह्नात्मकता की ओट में है—फिर भी विश्लेषण करने पर इसका अर्थ सीधा ही है। यहाँ पर कांग्रेस के १६४२ के तूफानी आन्दोलन का स्थान तूफानी सागर ने ले लिया है। उक्त व्यक्ति ने १६४२ के कांग्रेस आन्दोलन में भाग लिया, जिस पर उसे कारावास हुआ। इस स्वप्न द्वारा उसके जेल से बाहर आने की दबी हुई आन्तरिक इच्छा पूर्ण हो गई। जेल की काल कोठरी से बाहर निकालने का, स्वप्न के अतिरिक्त और कोई ढंग न था। उपरोक्त व्यक्ति ने बताया कि वह कारावास के काल में प्रायः स्वप्न देखता कि वह अपने पुराने कस्बे में स्वतन्त्रतापूर्वक घूम-फिर रहा है अथवा अपने इष्ट-मित्रों के साथ वाद-विवाद कर रहा है। कारावास के वातावरण में सारा दिन बिताने पर रात को ऐसे-ऐसे सुखद स्वप्न देख, वह सुख की सांस ले लेता था। ये स्वप्न काल कोठरी के संरक्षकों द्वारा दमन की गई इच्छाओं की पूर्ति करते थे।

प्रश्न उठता है कि स्वप्नों में हमारी इच्छायें सरल साधारण रूप में ही क्यों व्यक्त नहीं होतीं इस प्रकार विकृत रूप में क्यों आ उपस्थित होती हैं? हमारे मन पर एक प्रकार का पहरेदार हर समय पहरा देता है जिसे हम सैन्सर कह कर पुकार सकते हैं। इस सैन्सर के भय से ही स्वप्न अपने वास्तविक रूप में न प्रकट होकर विकृत रूप धारण करते हैं!

: २ :

सैन्सर क्या है ? संक्षेप में समाज की एक प्रतिध्वनि—जो हम सब में निरन्तर गूँजती रहती है। रात को हमारा सचेत मन सो जाता है, परन्तु सैन्सर निरन्तर जागता रहता है, यहाँ तक कि निद्रावस्था में भी वह पहरेदार की तरह चौकन्ना रहता है—कहीं हमारा प्राचीन अचेतन मन, हमारे संवेगों तथा चित्तवृत्तियों का स्वतन्त्र निकास न कर दे। यहाँ पर हम स्वप्नों की व्याख्या को दो भागों में बाँट सकते हैं—स्पष्ट अंश और गुप्त अंश। स्पष्ट अंश वह है जो हम व्यक्त में स्वप्न रूप में देखते हैं अर्थात् जो हमारे सम्मुख स्पष्टतया आता है। और गुप्त अंश वह है, जो स्पष्ट भाग के पीछे छिपा रहता है। जैसा कि उपरोक्त जैल के स्वप्न में, स्वप्न स्वयं तो पूर्णतया स्पष्ट भाग है परन्तु उसका विश्लेषण कि वह जैल से बाहर निकलना चाहता था गुप्त भाग है। अस्पष्ट भाग को स्पष्ट में परिवर्तित करना सुगम नहीं है। अतः अचेतन मन को ऐसा करने के लिए सहस्रों साधनों को प्रयोग में लाना पड़ा। फ्रायड महोदय

ने मन की तुलना नाट्याशाला से की है। जिस तरह पर्दे के सम्मुख जो खेल खेले जाते हैं, वे वास्तव में अपने आप ही नहीं होते, वरन् उनका 'कारण' छिपा हुआ रहता है, और जिस तरह एक बार मंच पर दिखाई देने वाले व्यक्ति समस्त पात्रों के केवल थोड़े से अंश रहते हैं, ठीक उसी तरह हमारे व्यक्त मन की घटनाओं के 'कारण' अव्यक्त मन में वर्तमान रहते हैं और जो अनेक प्रकार की व्यक्त भावनाएँ हम जानते हैं, वे हमारी समस्त भावनाओं का एक छोटा-अंश है। हमारी समस्त अव्यक्त भावनाएँ तो नेपथ्य में होने वाले नाट्य की नाई अस्पष्ट रहती हैं।

स्वप्न में भी गुप्त अंश की क्या आवश्यकता पड़ती है? दैनिक जीवन में हमें बहुत-सी इच्छाओं, प्रवृत्तियों तथा संवेगों का दमन करना पड़ता है, क्योंकि उनको प्रकट करना समाज के नियमों के विरुद्ध है। अनेकों पुरुषों का अव्यक्त मन पर-स्त्री को प्राप्त करना चाहता है—परन्तु वह ऐसा कर नहीं पाता। केवल यही नहीं कि ऐसा करने पर उसे कानून द्वारा दण्ड भुगतना पड़ेगा, बल्कि उसका अपना सचेत मन भी उसे ऐसा न करने देगा। धार्मिक कथाओं, पौराणिक ग्रन्थों और समाज के नियमानुसार हमें बहुत-सी इच्छाओं, प्रवृत्तियों तथा सहज स्वाभाविक संवेगों का दमन करना पड़ता है। दमन की गई इन इच्छाओं तथा प्रवृत्तियों का सर्वथा नाश नहीं हो जाता बल्कि ये हमारे अचेतन तथा अर्धचेतन मन में जाकर छिप जाती हैं और अवसर मिलने पर अव्यक्त रूप में व्यक्त हो जाती हैं। यहाँ तक कि रात्रि के समय भी वे विडम्बित रूप में ही व्यक्त होती

हैं। मानसिक विश्लेषण द्वारा स्वप्नों का अर्थ निकालने से पता चलता है कि स्वप्न व्यक्त से दबी हुई अव्यक्त वासनाओं की रूपान्तरित अभिव्यक्ति हैं। स्वप्न में भी ये इच्छाएं परिवर्तित, संक्षिप्त तथा संमिश्रित रूप में व्यक्त होती हैं। हम देखते हैं कि हमारे सचेत मन का निषेध भी, सहज स्वाभाविक मूल प्रवृत्तियों के वेग की नाईं ही तीव्र है। अर्थात् रात्रि को जब हमारा सचेत मन सो जाता है, तब भी हमारी प्रवृत्तियों और सचेत मन अर्थात् 'सैन्सर' का पारस्परिक झगड़ा चलता रहता है। यही कारण है कि स्वप्न में भी हमारी इच्छाएं अव्यक्त, धुंधलाकार रूप में व्यक्त होती हैं।

दस्तवसकी, ने अपने उपन्यास 'अपराध और दण्ड' में एक उदाहरण दिया है। उपरोक्त उपन्यास के नायक ने एक वृद्धा स्त्री की हत्या की है। उसी रात उसने स्वप्न देखा कि एक अन्य व्यक्ति ने एक बूढ़ी घोड़ी को मार डाला है। नायक स्वयं उस स्वप्न में एक छोटा सा बालक है। वह घोड़ी के घाव को देख, चीखें मार-मार कर रो पड़ता है। इस स्वप्न में नायक के अव्यक्त मन ने वृद्धा के घात को 'घोड़ी के घात' का रूप दे, अपराध को अपेक्षाकृत कम कर दिया। केवल इतना ही नहीं बल्कि उस अपराध को भी किसी दूसरे ही व्यक्ति पर लाद दिया, जिससे वृद्धा घोड़ी का घातक भी उसने स्वयं को नहीं ठहराया—किसी अन्य ही काल्पनिक व्यक्ति ने उस घोड़ी को मारा है—स्वयं नायक तो ऐसे घातक दृश्य को देख आँसू बहा रहा है। इस स्वप्न द्वारा स्वप्न-दर्शक की एक आन्तरिक इच्छा की पूर्ति हुई अर्थात् स्वप्न द्वारा उसने अपने अपराध को धो डाला।

हत्या का अपराध अपने सिर से हटाने के लिए उसके मन ने स्वप्न में एक ऐसी काल्पनिक मानव-काया की रचना की जिसके ऊपर वह अपने अपराध का भार सौंप सके। सैन्सर के भय से ही स्वप्न अपना वास्तविक रूप धारण न कर, विकृत रूप में आता है। स्वप्न के अर्थ द्वारा हमें अव्यक्त मन की समस्याओं, दुविधाओं तथा उलझनों का पता चलता है। हमारे अचेतन मन में अनेकों ऐसी घटनाएं, विषय तथा पदार्थ वर्तमान रहते हैं जो (मन के भीतर से) बाहर निष्कर्ष चाहते हैं।

कई बार स्वप्न की काल्पनिक मानव काया एक से दूसरा रूप बदलती रहती हैं। एक ही काया पहले 'राम' रूप में दिखाई देती है तो फिर 'शाम' और फिर 'कृष्ण' इत्यादि। अथवा कई बार एक काया एक ही समय में दो मानव मूर्तियों का रूप धारण करती है—एक ही समय पर वह 'राम' और 'शाम' नज़र आती है—इसको (Process of Condensation.) कहते हैं।

प्राय: एक स्वप्न जो रात को मिनट-भर में समाप्त हो जाता है, उसकी व्याख्या हम अनेकों पृष्ठों में करते हैं क्योंकि उसकी व्याख्या करते समय नेपथ्य अर्थात् अन्तर्मन में छिपी हुई भावनाओं को भी हम व्यक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त कई बार स्वप्न में घटनाओं का स्थानान्तर हो जाता है। मुख्य घटनाएं तुच्छ घटनाओं का रूप धारण कर, स्वप्न में तुच्छ दिखाई देती हैं और तुच्छ घटनायें मूल अथवा आवश्यक।

प्रश्न उठता है कि सब स्वप्न इच्छापूर्ति के साधन कैसे हो

सकते हैं ? क्या दुःस्वप्न भी किसी गुप्त इच्छा की ही पूर्ति करते हैं ? क्या स्वप्न में किसी की मृत्यु देखना भी किसी इच्छापूर्ति का ही साधन है ? यदि समस्त स्वप्न इच्छापूर्ति के ही साधन हैं तो कई बार मृत्यु का भयानक स्वप्न देखने पर हम रोते क्यों हैं ? मनोवैज्ञानिकों ने अनेकों प्रयोगों के बाद इस तथ्य को प्रमाणित किया है कि दुःस्वप्न अर्थात् वे मृत्यु स्वप्न भी हमारी इच्छाओं के ही पूर्ति-साधक हैं ।

उत्पत्ति के पश्चात् बच्चे को अनेकों अवस्थाओं में निराशा का मुँह देखना पड़ता है । वह अनेकों ऐसी क्रियाएं करना चाहता है जिन पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है । अपनी क्रियाओं में बाधा पहुँचाने वाले के प्रति उसके मन में रोकने वाले के प्रति दुर्भाव उत्पन्न हो जाते हैं । और दुर्भाव द्वंदप्रवृत्ति के बीज हैं । जब व्यक्ति अपने द्वंद को किसी कारणवश व्यक्त नहीं कर पाता तो उसका दमन हो जाता है—और दमन हुआ क्रोध विकृत रूप में मन में दब जाता है । प्रत्येक बालक सहस्रों बार अपने माता-पिता तथा सम्बन्धियों के प्रति क्रोधित होता है । वह माता-पिता का ध्यान पूर्णतया अपनी ओर आकर्षित करना चाहता है और उसकी हार्दिक इच्छा होती है कि वे उसी की इच्छानुसार, उसी में उलझे रहें—परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा होना सम्भव नहीं । वह संसार का शासक बनना चाहता है और सब से धनी तथा प्रिय—परन्तु जब वह ऐसा नहीं कर पाता तो उसे निराशा होती है । इस प्रकार के अनेकों कारण बालक को उदासीन करते हैं और उदासीनता क्रोधात्मक कल्पनाओं की उत्पादक है । ये हिंसा-

त्मक कल्पनाएं उसके अज्ञात मन में स्थान ले लेती हैं। इसी अवस्था में वह बड़ा होने लगता है और उसे अनुभवों से पता चलता है कि इस प्रकार की कल्पनाएं रखना श्रेय नहीं। अतः ये कल्पनायें उसके अज्ञात मन में छिपी रहती हैं—कभी-कभी स्वप्नों तथा भूलों आदि के द्वारा व्यक्त होती हैं।

एक बार एक मित्र पी० ने अपना स्वप्न सुनाया कि उसका छोटा भाई जो उन दिनों क्षयरोग से ग्रस्त था, मर गया है। पी० अपने उस छोटे भाई को बहुत चाहता था और दिन-रात उसकी सेवा करता था। गत एक वर्ष से वह निरन्तर उसकी चिकित्सा तथा देखभाल कर रहा था। अपना स्वप्न सुनाते ही वह पूछने लगा: 'तुम्हारे विचार में क्या मैं इस स्वप्न में अपने भाई की मृत्यु की कामना करता था?' जो व्यक्ति साल-भर किसी भी प्रियजन की निरन्तर सेवा करता है—उसे वर्ष-भर में हर समय अपने ऊपर प्रतिबन्ध रखना पड़ता है। जहाँ मानव की अपनी भावनाओं का दमन होता है, उसकी क्रोध-भावनाएं उत्तेजित हो जाती हैं। उपरोक्त उदाहरण में पी० को निरन्तर अपनी इच्छाओं को रोकना पड़ता था, रात रात-भर जागना पड़ता था, दिन-भर उसके लिए भाग-दौड़ कर चीज़ वस्तु लानी पड़ती। सो समय-समय पर उसके मन में भाई के प्रति द्वेष-भाव का उत्पन्न होना कोई अस्वाभाविक बात न थी।

यदि सचमुच ही स्वप्न में हम जिसकी मृत्यु देखते हैं उसके प्रति हमारे मन में दुर्भाव होते हैं तो स्वप्नद्रष्टा स्वप्न में ऐसे दृश्यों

को देख रो क्यों पड़ता है? स्वप्न में हम रोते उस समय हैं जब हमारे सचेत मन को इस बात का बोध होने लगता है कि हमने किसी ऐसे व्यक्ति की मृत्यु देखी है जो हमें प्रिय है अथवा जिसके विषय में हमें ऐसी भावनाओं को मन में न लाना चाहिये था। जब सैन्सर को पता चलता है कि हमारे अचेतन मन ने उसे धोखा देकर ऐसे भावों को व्यक्त किया है जो उसे न करने चाहिये थे और अचेतन मन ने ऐसी इच्छा व्यक्त की है जो अयोग्य थी। अर्थात् ऐसे स्वप्न देख चेतन मन के दबाव से मनुष्य स्वयं को अपराधी समझ उस अपराध को धोने के लिए रोता है। संक्षेप में दुःखद स्वप्न हमारी दमन की गई द्वंदात्मक कल्पनाओं की पूर्ति करते हैं और इन कल्पनाओं तथा चेतन मन के पारस्परिक संघर्ष के कारण हमें प्रत्यक्ष में दुःखदायी नज़र आते हैं। फ्रायड ने एक नवयुवती का उदाहरण लिखा है, जिसने स्वप्न में देखा कि बन्द बक्स में एक मरा हुआ नवजात शिशु पड़ा है। वह युवती गर्भवती थी। उस स्त्री का मनो-विश्लेषण करने पर पता चला कि वह स्त्री गर्भ धारण करने पर असन्तुष्ट थी। जैसा कि कई स्त्रियाँ विवाह के एकदम बाद ही गर्भ धारण करना नहीं चाहतीं, वह भी इसके विरुद्ध ही थी। अतः वह गर्भ ही में शिशु की मृत्यु की कामना करती थी—जो उसके स्वप्न से स्पष्ट था। इस प्रकार स्वप्न में उसने संतानोत्पत्ति के इतने बड़े उत्तरदायित्व से मुक्ति पा ली।

मृत्यु-स्वप्न के अतिरिक्त कुछ अन्य स्वप्न भी हैं—जिन्हें 'दण्ड देने के स्वप्न' कहा जा सकता है। मैलिनिक्लाइन ने एक छोटी-सी

कन्या का उदाहरण दिया है, जिसने स्वप्न में देखा कि वह अपनी माता के साथ एक भोजनालय में गई है। वहाँ पर बैरे ने उसे 'रस-भरी का सूप' नहीं दिया। इस स्वप्न के विश्लेषण से पता चला कि इस स्वप्न द्वारा वह बच्ची स्वयं को दण्ड देना चाहती थी। उसने किसी कारण स्वयं को अपराधी समझा होगा—तभी स्वप्न में उसने देखा कि उस अपराध का उसे दण्ड मिल रहा है। हम प्रायः माताओं को कहते सुनते हैं कि 'यदि तुम अवहेलना करोगे तो तुम्हें यह भोजन नहीं मिलेगा।' यह 'जैसे को तैसे' की उक्ति हम सब के चेतन मन में घर कर लेती है। दुःस्वप्न व मृत्यु-स्वप्न हमारी अचेतन मूल प्रवृत्तियों तथा इच्छाओं, चेतन मन तथा सुपरी-अहम की पूर्ति करते हैं जबकि दण्ड देने वाले स्वप्न हमारे चेतन मन की इच्छापूर्ति करते है और सरल इच्छापूर्ति के स्वप्न अचेतन मूलप्रवृत्तियों की।

: ३ :

स्वप्न गुप्त भावनाओं के जाल हैं :

स्वप्न में हमारी कई गुप्त भावनाएँ अपने यथार्थ रूप में प्रकट नहीं होतीं, बल्कि गुप्त वेष में नाना प्रकार के जालों में बुनी तनी व्यक्त होती हैं। जो इच्छाएं हम किसी कारणवश जागृतावस्था में प्रकट नहीं कर सकते या जिन भावनाओं का हमें दमन करना पड़ता है, स्वप्न में उन सबकी पूर्ति देख, हम सुख की साँस लेते हैं। अर्थात् हमारे अन्तर्मन में छिपी हुई भावनाएं स्वप्नों द्वारा व्यक्त होती हैं। प्रायः देखा जाता है कि जो व्यक्ति वास्तविक जगत में

कायर होते हैं स्वप्न में सर्वदा साहस दिखाते हैं, फिर भी उनके स्वप्नों में कहीं-न-कहीं इस बात का संकेत अवश्य मिल जाता है कि वे अपना काम पूरा नहीं कर सकते—अर्थात् उनके साहस में भी कहीं-कहीं विकृत रूप में कायरता झाँकती है। स्वप्न के द्वारा मनुष्य उन इच्छाओं की पूर्ति करता है जिन्हें वह वास्तविक जगत में पूरा नहीं कर सकता। हारा हुआ जुआरी स्वप्न में जीतता है, इसी तरह भूखा भिखारी स्वप्न में अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट पकवान जी भर कर खाता है, वियोगी स्वप्नों में अपने प्रियतम तथा प्रियतमाओं से मिलते हैं, निर्बल स्वप्नों में बल तथा निर्धन सोने के ढेरों-के-ढेर पाता है। महत्वाकांक्षी कवि, लेखक व कलाकार, जो वास्तविक जीवन में प्रसिद्ध नहीं हो पाते, स्वप्नों में नोबल पुरस्कार तक प्राप्त करते हैं।

स्वप्न मनुष्य की अन्तर्भावनाओं को दर्पण की नाईं व्यक्त करते हैं। किसी भी मनुष्य के स्वप्नों द्वारा मनोवैज्ञानिक उसके अन्तर्मन में छिपी हुई बातें जान सकते हैं। स्वप्नों में स्मृतियों, कल्पनाओं और चित्रों का चुनाव व्यक्ति की मानसिक गति की दिशा का सूचक होता है। इससे उसकी प्रवृत्तियों का बोध होता है और हम जान सकते हैं कि वह किन इच्छाओं व आदर्शों को प्राप्त करना चाहता है।

अतृप्ति की उपज :

उदाहरण के लिए एक २२ वर्ष की विवाहित स्त्री का स्वप्न लीजिये। वह अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट थी। एक बार उसने स्वप्न में देखा कि वह घघरी, ओढ़नी व लम्बे से घूंघट के स्थान पर एक छोटा-सा यूरोपीय ढंग का फ्राक पहन, छोटे-छोटे बच्चों के साथ

खेल रही है। स्वप्न में भी वह अपने उस व्यवहार को देख भयभीत हो उद्विग्न हो रही थी कि कहीं उसके ससुराल वाले उसे इस वेष में न देख लें, अन्यथा उसे खूब फटकार पड़ेगी। उपरोक्त स्त्री कई कारणों से अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट थी और वह पुनः अपने बालजीवन को प्राप्त करना चाहती थी। उसका विवाह हुए दो वर्ष हो चुके थे और वह ससुराल वालों के कठोर शासन-चक्र से बहुत पीड़ित थी। उसे घर के हर एक व्यक्ति से—यहाँ तक कि पति से भी घूंघट करना पड़ता था और वह कहीं भी खुले तौर से घूम-फिर न सकती थी। ससुराल के कठोर नियमों का पालन करते-करते वह मन-ही-मन उकता गई थी। परन्तु बाहर से सामाजिकता के नियमों को बड़ी सावधानी से निभा रही थी। उसकी इन दो परस्पर विरोधी प्रवृत्तियों का द्वन्द्व उसके स्वप्न से व्यक्त होता है।

एक अन्य नवयुवती ने एक बार स्वप्न में देखा कि वह हीरे का हार, चमकती चूड़ियाँ और लम्बे काँटे पहने हैं और सब उसकी इस वेष-भूषा को देख रहे हैं। इस स्वप्न का जब विश्लेषण किया गया तो विदित हुआ कि वह स्वप्न किसी गहरी आन्तरिक अभिलाषा का सूचक है। युवती अपने विवाहित जीवन से असन्तुष्ट थी। वह अपनी एक सखी के विवाहित जीवन पर ईर्ष्या करती थी—कारण, कि पहले उसी पुरुष को उसने अस्वीकार किया था। अब एक दिन जब वह उनके घर खाना खाने गई तो उसने देखा कि उसकी सखी हीरे का हार, चूड़ियाँ काँटे आदि पहने है—जो बहुत चमक रहे हैं। उसे पूर्वस्मृति हो आई कि 'यदि मेरा ही विवाह इस व्यक्ति से होता तो

मैं भी ऐसे भड़कीले आभूषण पहन सकती थी। इस प्रकार उपरोक्त स्वप्न में उसकी आन्तरिक अभिलाषा की पूर्ति हो गई और क्षण भर के लिए उसने अपनी सखी का स्थान प्राप्त कर लिया।

व्यक्तियों के दो पहलू :

मनुष्य के दो व्यक्तित्व होते हैं। उसका एक व्यक्तित्व तो उसे अपनी स्वाभाविक इच्छाओं की पूर्ति के लिए उत्साहित करता है जिसे फ्रायड ने 'इड़' का नाम दिया है और दूसरा उसे समाज के कटु नियमों का पालन करने के लिए बाधित करता है, जिसे 'सुपरि अहम्' (Super-Ego) कहते हैं। 'सुपरि-अहम्' निद्रावस्था में भी सतर्क रहता है। इसलिए हमारी सहज इच्छाएं बहुधा स्वप्नों में वेष बदल कर व्यक्त होती हैं। अर्थात् कई बार तो वे अर्थहीन-सी जान पड़ती हैं। परन्तु वास्तव में वे अर्थहीन नहीं होतीं। मनोवैज्ञानिक विश्लेषण द्वारा उनमें से बहुत महत्वपूर्ण अर्थ खोज निकालते हैं।

यहाँ पर प्रश्न उठ सकता है कि यदि मनुष्य स्वप्नों में अपनी दबी हुई इच्छाओं का ही चित्रण देखता है तो समय-समय लोग दुःस्वप्न क्यों देखते हैं? उससे तो उनकी इच्छाओं व आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं होती। बात यह है कि स्वप्न में केवल मनुष्य की दबी हुई इच्छाओं की ही पूर्ति नहीं होती बल्कि उसके भीतर की दबी हुई आशंकाए भी नाना प्रकार से व्यक्त होती हैं। मनुष्य की आशंकाएँ उसकी इच्छा के ही विकृत रूप हैं। उदाहरणार्थ कई बार मनुष्य स्वप्न में देखता है कि कोई अन्य ही व्यक्ति उसका गला घोंटने की चेष्टा में है। इसका अर्थ यह समझ लेना चाहिये कि अमुक व्यक्ति

किसी-न-किसी कारण अपने जीवन से उकता गया है और वह अनजाने में ही अपनी मृत्यु की कामना करता है। वह आत्म-हत्या का अपराध नहीं लेना चाहता, इसीलिए स्वप्न में कोई दूसरा व्यक्ति ही उसका हनन करता है।

फ्रायड का मत :

विश्व-विख्यात मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने अपने एक स्वप्न-सम्बन्धी लेख में इस उदाहरण को पेश किया है कि एक दिन एक व्यक्ति ने स्वप्न में देखा कि वह रेलगाड़ी में यात्रा कर रहा है। अकस्मात् गाड़ी एक निर्जन स्थान पर रुक जाती है। वह व्यक्ति इस आशंका से घबड़ा उठता है कि रेलगाड़ी में दुर्घटना होने जा रही है। वह अपने प्राण बचाने के उद्देश्य से गाड़ी की भीड़ से बाहर निकलने का प्रयत्न करता हुआ अपने रास्ते में बाधा डालने वाले प्रत्येक व्यक्ति की हत्या करता चला जाता है। गाड़ी के प्रत्येक डिब्बे में जाकर, वह गार्ड, ड्राइवर, टिकट कलक्टर आदि सब को मार डालता है।

स्वप्नद्रष्टा की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने से इस बात का पता चला कि उसने कुछ समय पहले एक मित्र द्वारा एक पागल के सम्बन्ध में एक सच्ची घटना सुनी थी। उस पागल को रेलगाड़ी के एक डिब्बे में बन्द कर पागलखाने भेजा जा रहा था। अचानक अनजाने में एक अन्य व्यक्ति भी उसी डिब्बे में घुसकर बैठ गया। पागल ने रास्ते में उस आदमी की हत्या कर दी। स्वप्नद्रष्टा के मानस-पटल पर इस घटना का इतना गहरा प्रभाव पड़ने का एक कारण यह था कि कुछ काल पहले उसने एक लड़की से विवाह करने

का अपने मन-ही मन संकल्प कर लिया था, परन्तु बाद में उसे पता चला कि कुछ अन्य व्यक्ति भी उस कन्या को प्रेम की निगाहों से देखते हैं। परिणामस्वरूप जिन-जिन व्यक्तियों के साथ उस लड़की की घनिष्टता थी, उन सबके प्रति उसके मन में ईर्ष्या की ज्वाला भभक उठी। उस ईर्ष्या के प्रकोप से उसे इस बात की शंका होने लगी कि कहीं अतीव ईर्ष्या के कारण वह पागल न हो जाय और पागल होने पर कहीं भयंकर हत्याएं न कर बैठे। उपरोक्त व्यक्ति के मन की इस बात को जानने पर, उसके स्वप्न का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। रेल के उस पागल यात्री की घटना उसे स्वप्न में याद आई और उस पागल के स्थान पर उसने स्वयं को समझ लिया। रेल के डिब्बों में अपने रास्ते में रुकावट डालने वाले लोगों को मारने का आशय यह था कि उसकी प्रेमिका से घनिष्टता रख, उसके विवाह में बाधा पहुँचाने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मारने की जो गुप्त भावना उसके अन्तर्मन में छिपी पड़ी थी, वह इस प्रकार अवसर पाकर स्वप्नावस्था में प्रकट हो गई। वास्तव में हत्या करने की प्रवृत्ति उसके अन्तर्मन में छिपी हुई थी परन्तु उसका सचेतन मन ऐसी बात नहीं सोचना चाहता था। अतः इस प्रकार प्रतिद्वन्दियों को हत्या करने की मनोभावना गुप्त रूप में प्रकट हुई।

एक अन्य व्यक्ति जब सुबह उठा, तो उसकी आँखें तर थीं और वह सिसक रहा था। पूछने पर उसने बताया कि उसने स्वप्न में देखा है कि उसका चचा मर गया है और उसे बहुत दुःख हुआ। वास्तव में उसके चचा को मरे २१ वर्ष हो गए थे।—और यह

स्वप्न उसकी मृत्यु के बाद कई बार आ चुका था। विश्लेषण करने पर यह विदित हुआ कि यह स्वप्न उसे सदा ही उसी अवसर पर आता है जब वह आर्थिक कष्ट से पीड़ित होता है। उसके चचा की मृत्यु पर उसे कुछ धन मिला था, जिससे उसकी सामयिक आर्थिक समस्या हल हो गई थी। स्वप्न में वह चचा की मृत्यु को देख रोता इसलिए था कि स्वप्न में भी उसका व्यक्त मन इस बात को नहीं मानता था कि वह अपने चचा की मृत्यु चाहता है—क्योंकि ऐसा सोचना सामाजिक तथा नैतिक सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इच्छापूर्ति स्वप्नों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष में दुःस्वप्न दिखाई देने वाले स्वप्न भी यथार्थ में इच्छापूर्ति के ही विकृत रूप होते हैं। दुःस्वप्न उन काल्पनिक इच्छाओं के सूचक हैं जो हमारी सुपरिअहम् की प्रतिद्वन्दी होती हैं। जैसे उपरोक्त स्वप्न में वह चचा की मृत्यु पर आँसू बहाता है। विश्लेषण करने पर सभी स्वप्न प्रत्यक्ष में या अप्रत्यक्ष में इच्छापूर्ति के ही साधन हैं।

बच्चों का मानसिक विकास

हमें बच्चों से बहुत प्रेम है। इनका हमारे जीवन से ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि सन्तानहीन माँ-बाप स्वयं को भाग्यहीन समझते हैं। सन्तानोत्पत्ति दाम्पत्य-प्रेम का सर्वोच्च आदर्श माना जाता है। परन्तु खेद की बात तो यह है कि हम सन्तति प्रेम में जितने भावुक हैं, उतने ही उनके लालन-पालन से अनभिज्ञ हैं। अतः हमारा वह प्रेम केवल मोह ममता तक ही सीमित रहता है—उनके वैयक्तिक विकास व उन्नति की ओर हम विशेष ध्यान नहीं देते।

बहुत कम माँ-बाप ऐसे हैं जो प्रतिदिन बच्चों से मिलते हुए भी उनके आचार-व्यवहार के विषय में सोचते हैं। जिन्हें इस बात की सुध है कि उनके बच्चों का व्यवहार कैसा है? क्या हो और कैसे उसका सुधार किया जा सकता है?

प्रायः माँ-बाप सोचते हैं कि नये बालक के जन्म से उनकी सम्पत्ति में एक और वृद्धि हुई है। इस सम्पत्ति पर वे अपना पूरा प्रभुत्व समझते हैं। वे सन्तान को अपनी उन इच्छाओं व आकांक्षाओं के साँचे में ढालना चाहते हैं, जो जीवन की कर्कशता से टकराकर खण्ड-खण्ड हो गईं।

अनुचित चाह—माँ-बाप की यह स्वार्थपूर्ण लालसा बच्चों के

जीवन-विकास में सबसे अधिक बाधाएं उपस्थित करती है। यदि हम अपनी सन्तान के सच्चे हितचिन्तक बनने का दावा करते हैं तो हमारा सर्वोच्च धर्म है कि हम प्राचीन कलुषित दृष्टिकोण को बहुत शीघ्र बदल दें। माँ-बाप के लिए यह समझना अत्यावश्यक है कि सन्तान उनकी सम्पत्ति नहीं अत: उन्हें अपनी दबी हुई आकांक्षाओं की पूर्ति का साधन बनाना उनके प्रति अन्याय व पाप करना है और ऐसा करने का उन्हें कोई अधिकार भी नहीं।

हमें बाल-जीवन के इस साधारण तथ्य का ध्यानपूर्वक अध्ययन करना चाहिये कि प्रत्येक बालक जीवन में कुछ मूल प्रवृत्तियाँ लेकर आता है। वंश-परम्परा के कुछ संस्कार तथा मूल प्रवृत्तियाँ ही उसका वह धन हैं, जिन्हें लेकर वह जगत में प्रवेश करता है। मूल प्रवृत्तियों व परम्परागत संस्कारों तथा वातावरण की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से उसके चरित्र का निर्माण होता है। उसकी परम्परा, अन्य संस्कारों तथा चरित्र को यदि हम प्रयत्न भी करें तो साधारणतया बदल नहीं सकते, और उन्हें बदलने की हमें कोई आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि साँचा तो वातावरण ही है। यदि हम वातावरण के साँचे को ऐसा रूप दे सकें, जिससे बच्चे का व्यक्तित्व पूर्णतया प्रस्फुटित हो सके तो संस्कार और प्रवृत्तियाँ, काफ़ी हद तक स्वयमेव साँचे के अनुसार ढल जायेंगी।

माता के गर्भ में शिशु परमान्दावस्था में होता है। माता की मृदुल देह में लिपटे, उसके पंखुड़ियों जैसे कोमल अंग, उसे एक ऐसा निराकार आनन्द देते हैं, जिसकी एक पश्चिमी वैज्ञानिक—'ओटो

रैन्क' ने तो ब्रह्म में लीन होने की अवस्था से तुलना की है। ऐसी सुखकर अवस्था से वंचित होना बच्चे को एक असह्य सदमा पहुँचाता है, जिसे 'बर्थट्रामा' अर्थात् 'उत्पत्ति आघात का नाम दिया गया है। इसीलिए बच्चा उत्पन्न होते ही पहले चीख-पुकार करता है। कुछ काल बाद उसे इस कर्कश सत्य से सन्धि करनी ही पड़ती है, परन्तु वह गर्भ के उस सुख को और उत्पत्ति की उस पीड़ा को आजीवन नहीं भूलता। जीवन के प्रत्येक आनन्द में उसकी अन्तर्गर्भीय सुख की अचेतन स्मृतियाँ आ सम्मिलित होती हैं और जीवन की कठिन समस्याएँ 'उत्पत्ति आघात' का सहयोग प्राप्त कर कई बार हमारे लिए अकथनीय दुःख का कारण बन जाती हैं।

इसलिए माता का सबसे पहला कार्य जननाघात से उत्पन्न हुई, बच्चे की पीड़ा का निवारण करना है। माता को चाहिये कि वह पहले पहल बच्चे को अत्यन्त कोमल और सुखदायक अवस्था में रखने का प्रयास करे जिससे वह घोर अन्तर का सदमा कम महसूस करे। और माता को यह भी चाहिए कि वह उसे नरम और गुदगुदे बिस्तर पर लिटाये, समय पर खुराक दे तथा ठीक हरारत में रखे।

बालक को संसार तो पहले ही बहुत संभ्रान्त तथा संकीर्ण जान पड़ता है। इस पर यदि उसे बाह्य उत्तेजनाओं का सामना करना पड़े तो उसके स्नायुओं पर असह्य प्रभाव पड़ेगा, जिससे उसके विकास व उन्नति में बाधा पड़ेगी तथा संशय की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायगी। अतः बच्चे को पहले-पहल शोर, कोलाहल तथा कर्कश ऊँची ध्वनियों से दूर रखना चाहिये, जैसे कि ढोल बजाना, अचानक कोलाहल, घब-

राहट, तीव्र प्रकाश तथा अचानक नयी स्थिति का उत्पन्न हो जाना। प्राय: हमारे घरों में केवल मज़ाक के लिए ही माँ-बाप कुतूहलवश बच्चे के पास नये शोर या खट्-खट् कर देते हैं—कोलाहल से रक्षा करने का तो उन्हें ज्ञान ही नहीं होता। गहराई से सोचने पर पता चलता है कि बच्चों में साधारण भय का कारण अचानक किसी नयी स्थिति का उत्पन्न हो जाना, उनकी इन्द्रियों का बड़े वेग से उत्तेजित हो जाना और उस स्थिति का सामना न किये जाने से एक धक्का पहुँचना है। अत: बच्चों को मनोविकार से बचाने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी इन बाह्य उत्तेजनाओं से रक्षा की जाय। माँ को इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने बच्चे को जीवन की यथार्थता इस ढंग से बताये कि उसे अधिक मानसिक पीड़ा या कष्ट न पहुँचे।

बच्चे को जीवन की वास्तविकता से धीरे-धीरे परिचय कराने में माता को बड़ी सावधानी तथा बुद्धिमता से काम लेना चाहिये। उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि कहीं बच्चे को बुरी आदतें न पड़ जायँ। आदतें और अभ्यास जीवन-चर्या को सुगम बना देते हैं। बच्चे की आदतें जितनी ठीक पक जायँगी उतना ही माँ और शिशु दोनों को आराम रहेगा। परन्तु यह देख लेना चाहिये कि आदतें बच्चे की आवश्यकता और रुचि के अनुकूल हों, न कि माँ-बाप और अभिभावकों की पसन्द के लिहाज़ से। यदि बच्चे की रुचि के प्रतिकूल आदतें डालने का प्रयास भी किया जायगा तो इससे बच्चे पर अनावश्यक बोझ पड़ेगा। माँ-बाप को यह विचार

छोड़ देना चाहिये कि बच्चा एक अबोध जीव है तथा वह कुछ भी सोच-समझ नहीं सकता। यदि सचमुच ही बच्चे का दिमाग इतना सूक्ष्मग्राही न होता तो इतने अल्पकाल में वह संसार के इतने अनुभव न ग्रहण कर सकता था।

माँ-बाप को इस बात का ज्ञान होना चाहिये कि शिशु की स्मृति बहुत गहरी तथा चिरस्थायी होती है, जो उसके अचेतन मन में दबी पड़ी रहती है। इसलिए माता-पिता को बच्चों की उपस्थिति में ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहिये जिससे उनकी कोमल भावनाओं अर्थात् 'संवेग सन्तुलन' को चोट पहुँचे। क्योंकि जो बातें बच्चे समझ नहीं सकते, वे उनके सुकुमार मन पर अंकित हो जाती हैं तथा उनके भविष्य-वर्ती जीवन में उनके आचार-व्यवहार पर बहुत गहरा प्रभाव डालती हैं। माता-पिता को चाहिये कि वे निजी लड़ाई तथा प्रेम-सम्बन्धी बातों में भी शिशु को सर्वदा दूर रखें। अन्यथा हो सकता है कि इन घटनाओं की धुँधली छाया बच्चे के विवाहित जीवन व सुख शान्ति में बाधक प्रमाणित हो।

प्रायः माँ-बाप बच्चों के लालन-पालन, देख-रेख, मानसिक व वैयक्तिक विकास, शिक्षा, बुद्धि अथवा प्रगति के विषय में अनभिज्ञ तथा उदासीन रहते हैं। बच्चे के जीवन के पहले पाँच वर्ष तो घर ही में इधर-उधर खेलते-कूदते व्यतीत हो जाते हैं। जब बच्चा पाँच साल का होता है तो माता-पिता को उसे स्कूल में शिक्षा देने की चिन्ता होती है और वे चाहते हैं कि बच्चा शीघ्र ही बहुत-सी पुस्तकों को निगल कर समाज में आदर-सत्कार प्राप्त करे, ताकि योग्य

पुत्र के माता-पिता होने के नाते वे प्रशंसा प्राप्त कर सकें।

माँ-बाप तथा शिक्षक बच्चे को शिक्षा के एक ऐसे साँचे में ढाल देते हैं जिससे उसका पूर्णतया वैयक्तिक विकास नहीं हो पाता। अधिकतर वे अक्षरों के ज्ञान तथा किताबों के पढ़ने के लिए ही बच्चे को उत्साहित करते हैं, उसके मानसिक व वैयक्तिक विकास तथा अनुकूल प्रवृत्तियों की कटु अवहेलना करते हैं। वास्तव में शिक्षक तथा माँ-बाप का कर्त्तव्य बच्चों को अक्षर बोध करवाना ही नहीं अपितु उनके जीवन की ग्रन्थियों को सुलझाने में सहायता देना भी है। लनका कर्त्तव्य है कि वे बच्चे के व्यक्तित्व को पहचानें तथा उसे उसके विकास के लिए उपर्युक्त वातावरण दें। वे बच्चों के मन में सदियों का संचित ज्ञान ही न भर दें बल्कि उनमें अनुसन्धान प्रवृत्ति जगाएँ। बच्चे को भय या क्रोध दिखाकर नहीं वरन् प्रेम से उसकी विध्वंसक प्रवृत्तियों को सृजनशील शक्ति में परिवर्तित करें।

खेलना-कूदना बच्चों की शिक्षा का एक अत्यावश्यक अंग है और स्वाभाविकतया बच्चों की इस ओर रुचि भी है। भोजन और वस्त्रों के समान ही खेल भी बालकों के शरीर गठन तथा मनोविकास के लिए आवश्यक हैं। खेल का लक्ष्य खेल ही होता है—और बच्चा इससे असीम आनन्द प्राप्त करता है। बच्चों के जीवन के विकास तथा वृद्धि में खेल आश्चर्यजनक काम करते हैं। परन्तु साधारणतया माँ-बाप बच्चे की इस प्रवृत्ति का पग-पग पर दमन करते हैं। वे बच्चों की क्रीड़ाओं को समय व्यथ गँवाना समझते हैं। परन्तु वास्तव में बच्चे के खेल सामाजिक शिक्षा के लिए बड़े उपयोगी होते हैं।

शीलर महाशय तो यहाँ तक कहते हैं कि मनुष्य का मनुष्यत्व खेलने में ही है।

खेल में बच्चा दूसरे अन्य बच्चों के सम्पर्क में आता है। और वह खेल द्वारा अपनी दबी हुई इच्छाओं को प्रकट करता है तथा उपार्जित शक्ति बाहर निकालता है। उदाहरणार्थ एक ६ वर्ष की कन्या, जिसके पिता रेडियो स्टेशन के एक प्रमुख स्टेशन डायरेक्टर हैं, प्राय: खेल में रेडियो स्टेशन बनाती है। वह स्वयं उस काल्पनिक रेडियो स्टेशन की स्टेशन डायरेक्टर बनती है और अपने अन्य साथियों को स्टैनो, क्लर्क, चपरासी, आर्टिस्ट व प्रोग्राम असिस्टेन्ट आदि बनाती है। वह बच्ची अपने पिता का स्थान लेना चाहती है और अपनी उस अज्ञात इच्छा को इस प्रकार खेल में प्रकट करती है। प्राय: बच्चों में अपने माता-पिता का स्थान लेने की सहज कामना होती है—उपरोक्त बच्ची, वास्तविक जीवन में भी अपनी माता की अपेक्षा पिता को अधिक चाहती है और उन्हीं का अनुकरण करना चाहती है। बच्चों के खेल की सामग्री उनके वातावरण से ही तैयार होती है।

खेलने से बच्चे के भावों का ही नहीं, शरीर और बुद्धि का भी विकास होता है। ५ वर्ष के बाद जब बच्चा स्कूल जाने लग जाय, तो भी उसे सारा दिन पुस्तकों में ही लीन रहने के लिए बाधित नहीं करना चाहिये। बच्चों के खेलों को उनके समय काटने का साधन नहीं समझना चाहिये और उनके खेलों में अधिक बाधा नहीं पहुँचानी चाहिये। माँ-बाप को केवल इतना करना चाहिये कि वे उनकी वृत्ति

ऐसे खेलों की ओर बढ़ाने की चेष्टा करें, जिनके द्वारा उनमें समाज के साथ सहयोग स्थापित करने की भावना जागरित हो, न कि अकर्मण्य असहयोग की।

५ से १० वर्ष की अवस्था में बच्चे की चेतन-भावना अग्रसर हो जाती है और वह आज्ञाकारी शिशु तथा उत्सुक शिष्य बनने का प्रयास करता है। ६ वर्ष की अवस्था के लगभग वह मौन स्वभाव का हो जाता है और उसकी विविध भावनायें दब जाती हैं। वह अपने गुणों तथा दोषों की आलोचना करने लग जाता है और उसके सामाजिक व्यवहार में बहुत अन्तर आ जाता है।

इस काल में बच्चे की औत्सुक्य वृत्ति बड़ी प्रबल होती है और अनुसरण करने की प्रवृत्ति भी तीव्र होती है। इसी काल में बच्चे में नैतिकता की नींव पड़ती है।

आयु के अनुकूल ये परिवर्तन तो बाल जीवन में स्वाभाविक ही हैं, इनके अतिरिक्त उस पर अनुचित दबाव डाल, उसकी स्वाभाविक वृत्तियों का दमन करना बहुत हानिप्रद है।

पाँच से १० वर्ष की अवस्था में बच्चा स्वयं ही अपने सुपरि-अहम् के बोझ से दबा होता है। माँ-बाप और शिक्षकों का और अधिक दबाव डालना उस पर भारी अत्याचार करना है। इस आयु में उसे दबाना, उसे सदा के लिए पगहीन बनाना है। यदि उस पर अधिक दबाव डाला जायगा तो वह आजन्म सहारा ढूँढता फिरेगा और कभी भी विश्वासपूर्वक अपने पाँव पर न खड़ा हो सकेगा। माँ-बाप नहीं जानते कि ऐसा करने से वे उसकी मानसिक टाँगें तोड़ रहे हैं, जिससे वह भविष्य में कभी स्वच्छन्द रूप से फल-फूल न सकेगा।

कभी-कभी बालक की साधारण इच्छाएं बलपूर्वक दबा दी जाती हैं। जो इच्छाएं बलपूर्वक दबा दी जाती हैं, उनकी शक्ति कभी नष्ट नहीं होती, वे दमन हो अव्यक्त मन में चली जाती हैं और वहाँ पर उत्पात मचाती हैं—जो अनेक मानसिक व्याधियों का कारण होती हैं। बालकों की दबी हुई इच्छाएं निराशावाद का कारण होती हैं।

प्रत्येक बच्चे का अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व होता है। उसकी अपनी ही निजी अभिरुचि, आशाएं, इच्छाएं, आदर्श तथा आकांक्षाएं होती हैं। बच्चा सजीव है—इसलिए उसका व्यक्तित्व यदि हम तोड़-फोड़ कर रचना भी चाहें तो रच न सकेंगे। परन्तु फिर भी माँ-बाप के इस परम्पराजात दमन का कहीं अन्त नहीं होता। माँ-बाप अपने बच्चों को दबाते हैं, उस दमन से जो विरोध बच्चे के मन में उत्पन्न होता है, युवावस्था में वह अपनी सन्तति को दबाकर पूर्ति करता है।

बालकों तथा स्वयं को इस कुचक्र से निकालने के लिए माँ-बाप को चाहिये कि वे उसे प्रेम तथा विश्वास के वातावरण में पालें। जब तक बच्चे को वातावरण से प्रेम तथा विश्वास नहीं मिलेगा, उसमें कभी आत्म-विश्वास तथा दूसरों में पूर्ण विश्वास की दृढ़ता उत्पन्न नहीं हो सकती। माता-पिता बच्चे के पथ-प्रदर्शक मित्र की नाईं हैं। उनका कार्य बालक को केवल पथ दिखाना है—न कि उसकी मानसिक शक्तियों को तोड़-मरोड़ कर अपने ही मन-घड़न्त साँचे में ढालना। उन्हें चाहिये कि वे एक समझदार माली की तरह इस सुकुमार पौदे को पानी लगायें, अच्छी-से-अच्छी खाद-रूपी शिक्षा दें, और उसकी अपनी शक्ति अनुसार उसे फलने फूलने का अवसर

दें। बालक एक स्वतन्त्र व्यक्ति है; बड़ों के हाथ का खिलौना नहीं और न ही उनकी सम्पत्ति है। अतः माता-पिता का उसके प्रति समझ और आदर का व्यवहार होना चाहिये।

जितना ही माँ-बाप बच्चे की पढ़ने की महत्ता पर अधिक ज़ोर देते हैं, उतना ही वह पढ़ाई से जी चुराने लगता है और पढ़ाई को खेल तथा प्रसन्नता के साधन की अपेक्षा मुसीबत समझने लगता है। कइयों का मत है कि यदि बच्चा शिक्षा को भी खेल ही समझने लगेगा तो उसके चरित्र का निर्माण न हो पावेगा। परन्तु यह बात ठीक नहीं। खेल क्या है? वह क्रिया शक्ति, जिसमें लीन होकर बच्चा खाना, पीना तथा सोना तक भूल जाता है। यदि बच्चा पढ़ाई को भी खेल ही समझेगा तो वह उसमें उतनी ही दिलचस्पी ले सकेगा। यदि बालक का सारा जीवन और उसके जीवन का सारा काम खेल के ही ढंग पर हो, तो वह कितना खुश रह सकता है! आधुनिक काल में, विदेशों में कई ऐसी शिक्षा-प्रणालियाँ बनी हैं, जिनका उद्देश्य बालक को खेल द्वारा शिक्षा देना है। उदाहरणार्थ किंडर गार्टन शिक्षा प्रणाली में बालक को खेल ही में भाषण करना, अक्षर लिखना-पढ़ना और समाज-व्यवहार की अनेक बातें सिखाई जाती हैं। हमारे देश में भी अब किंडर गार्टन पद्धति के अनुसार वर्ण लिखने के तरीके निकाले गए हैं, जिनमें बच्चों को—नाचकूद, और गाने में प्रोत्साहित किया जाता है; और मनोरंजक कहानियाँ सुनाई जाती हैं जिनका वे अपने खेलों में अभिनय करते हैं। ऐसी शिक्षा-प्रणालियों का बहु संख्या में प्रचार होना चाहिए क्योंकि इनके द्वारा बालक में उन सब

मानसिक गुणों की अभिवृद्धि होती है, जो उसे एक सुखी योग्य नागरिक बना सकें। माता-पिता और अभिभावकों को बच्चे के काम में किसी तरह की बाधा न पहुँचानी चाहिए। उसे जबरदस्ती उसके काम से हटाना उसके लिए बड़ा हानिप्रद है—इससे वह क्रुद्ध होता है और उसकी शक्ति क्षीण होती है।

५ से १० वर्ष की अवस्था में बच्चे की उत्सुकता प्रबल हो जाने के कारण, वह हर एक वस्तु का नाम, स्वभाव तथा व्याख्या जानना चाहता है। जहाँ भी वह जाता है उसे सहस्रों नई स्तुएँ दिखाई देती हैं और वह उनसे परिचित होना चाहता है। जिन बातों की ओर माता पिता का ध्यान भी नहीं जाता, वे भी बच्चे की उत्सुकता को आकर्षित करती हैं। अतः बच्चा अपने बड़ों से सहस्रों प्रश्न पूछता है, जिनका उत्तर देते-देते प्रायः वे थक जाते हैं और उनको कोई महत्व ही नहीं देते। कई बार तो बच्चे बड़े अर्थ-पूर्ण संगीन प्रश्न पूछ बैठते हैं जो प्रायः उनके भावी जीवन के दर्पण होते हैं। परन्तु मां बाप बहुत कम उनको समझने का प्रयत्न करते हैं।

संसार की अन्य वस्तुओं के साथ-साथ कई बार बच्चा अपने शरीर के भिन्न-भिन्न अंगों के नाम पूछता है। परन्तु उत्तर में या तो उसे धमकाया जाता है या कहा जाता है कि ये गन्दी बातें हैं अर्थात उसे भविष्य में ऐसी बातें कभी न करनी चाहिएं। हर बच्चा किसी-न-किसी अवस्था में यह जानना चाहता है कि बच्चे कहाँ से पैदा होते हैं? माता-पिता का परस्पर क्या सम्बन्ध है? अथवा लड़के व लड़की के शरीर की बनावट में क्या भेद है और क्यों है?

परन्तु बच्चों के इन प्रश्नों का कभी भी सच्चा तथा संतोषजनक उत्तर नहीं दिया जाता। प्राय: उन्हें कह दिया जाता है कि बच्चे आकाश से देवता फेंक देते हैं अथवा डाक्टर अपने बैग में से निकाल कर दे जाते हैं, इत्यादि, इत्यादि। परन्तु बच्चे को इन निरर्थक उत्तरों से कभी सन्तोष नहीं होता। जब उन्हें माता-पिता से इन प्रश्नों का ठीक उत्तर नहीं मिलता तो वे अपनी जिज्ञासा अन्य लोगों से या साथियों से तृप्त करने का यत्न करते हैं—जिससे उन्हें इन विषयों में अधूरा या भ्रामक ज्ञान मिलता है। परिणामस्वरूप उनके भविष्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि हम अपने बच्चों का कल्याण चाहते हैं तो इस विषय में उन्हें बिल्कुल स्पष्ट तथा सत्य-ज्ञान करवा देना चाहिए। जब बच्चों को नाक, कान, और मुंह आदि का नाम बताने से कोई हानि नहीं होती तो उनकी जननेन्द्रिय का नाम या काम बताने से क्या हानि हो सकती है? काफी हद तक माता-पिता बच्चे के भविष्य के निर्माता है अत: उन्हें बच्चों के भविष्य, व्यवहार तथा शिक्षा का सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। उनके प्रश्नों का ठीक तथा सन्तोषजनक उत्तर देना चाहिए ताकि वे भविष्य में भी उन पर विश्वास कर सकें।

बालक को शुद्ध रमणीय वातावरण में रखना चाहिये। उसको ऐसे दृश्य दिखाने चाहिएँ जिनका उसके मन पर सुप्रभाव पड़े। उसका ध्यान वृक्षों, पत्तों, फूलों तथा प्रकृति की रमणीयता की ओर आकर्षित करना चाहिए। उसे उपदेशपूर्वक मनोरंजक कहानियाँ सुनानी चाहिएँ। कहानियाँ बच्चों के चरित्र-विकास के लिए बहुत उपयोगी हैं।

विशेषकर वीर तथा महापुरुषों की गौरव-गाथायें सुनानी चाहियें। सिनेमा व थियेटर की ओर उनकी रुचि बढ़ानी चाहिए।

बड़ों को चाहिए कि बच्चों के सम्मुख वही बातें करें जिनकी वे उसमें आदतें डालना चाहते हों। यदि माता-पिता चाहते हैं कि उनका बच्चा सत्यवादी बनें, तो उनको चाहिए कि पहले वे स्वयं सत्य बोलना प्रारम्भ करें। बालक के सम्मुख झूठ का उदाहरण न रखें। क्योंकि बालक बड़ों की नकल करता है। यदि आप स्वयं झूठ बोलते हुए उससे सत्य की आशा करें तो यह बड़ा कठिन है। घर के वातावरण का बाल-मन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है, यह बात अभिभावकों को कदाचित् न भूलनी चाहिए।

बालकों की रुचि विविध सृजनात्मक क्रियाओं की ओर बढ़ानी चाहिए। उसे नाना प्रकार के सामूहिक खेल, ड्रामा, बागबानी, सामूहिक गाने, कला, तैरने तथा नृत्य की ओर प्रोत्साहित करना चाहिए। व्यायाम तथा स्काउटिंग भी बच्चों के मानसिक तथा शारीरिक विकास के लिए बड़े उपयोगी हैं। विविध कामों में दिलचस्पी लेने से उसकी कल्पना-शक्ति भी बढ़ेगी।

यदि बच्चों को इस प्रकार का उपर्युक्त वातावरण तथा सुविधायें प्राप्त होंगी तो निश्चय ही वे अपना भविष्य स्वयमेव आनन्दमय, सुखी तथा उज्जवल बना सकेंगे।

धर्म का विश्लेषण

"मनुष्य के बालपन तथा मानवजाति के शिशुत्व की असहायावस्था की आवश्यकताएँ ही कल्पनाओं के जाल—धर्म की मूल उत्पादक हैं।"

—सिगमण्ड फ्रायड।

धर्म का भविष्य समझने के लिए हमें उसके भूत का ज्ञान होना चाहिये। हमें यह जानना है कि प्राचीन लोगों का क्या आचार-व्यवहार था और उनका क्या धर्म था? आदिकाल से मनुष्य कुछ ऐसे सर्वव्यापी नियमों की खोज करता रहा है, जिनके द्वारा वह प्राकृतिक शक्तियों की गतिविधि को अपने काम में ला सके। अपनी इस अनथक खोज से उसने नियमों का एक ढेर-सा इकट्ठा कर लिया है—जिनमें कुछ तो सुनहले हैं और कुछ मटमैले हैं। सत्य व सुनहले नियम हैं—प्रयुक्त विज्ञान, जिसे हम कला कहते हैं और मिथ्या व मिट्टी समान हैं—धर्म और जादू।

जादू धर्म से भी प्राचीन है। जादू प्राणियों के 'सम्बन्ध' के बड़े साधारण नियम पर निर्भर है—जो किसी सीमा तक पशुओं के

व्यवहार में भी पाया जाता है। पशु उन दो वस्तुओं की कल्पनाओं को सम्बन्धित करते हैं, जो या तो परस्पर सादृश्य रखती हैं या एक ही स्थान पर पाई जाती हैं। इससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जादू—जो दो 'पारस्परिक सम्बन्धों' अर्थात् 'सादृश्यता के सम्बन्ध' तथा 'निकटवर्ती सम्बन्ध' पर अवलम्बित है और धर्म से भी अधिक प्राचीन है।

शनैः शनैः जादूवाला—सर्वशासक ढंग कई जगह असफल सिद्ध हुआ है। जब जादू का प्रयोग करने के बावजूद कुछ बुद्धिमान लोगों ने देखा कि पूर्ववत् मेघ गरजते और बरसते हैं, तूफ़ान, बाढ़ तथा भूकम्प संसार में उथल-पुथल करते हैं और लोग भूख, रोग तथा मृत्यु के शिकार होते हैं—तो उन्होंने जादू की सत्ता मानने से इन्कार किया और इसके विरुद्ध एक व्यापी आन्दोलन चलाया। इससे जादू-वाद को चोट तो लगी, परन्तु आहत अन्धविश्वास 'धर्म' नामक एक अन्य मिलती-जुलती वस्तु में परिणत हो गया। फिर भी परिवर्तन काल के प्रारम्भ में एक ही व्यक्ति पुजारी और जादूगर का काम करता था—वही प्रार्थना-उपासना करता था और वही टोना-टटका करता था। उसे कदाचित अपने व्यवहार व व्यवसाय के इन दो परस्पर-विरोधी पक्षों का पता भी न था। अस्तु, जैसे भी था, वह अपने कार्य की सिद्धि के लिए प्रयास करता था। मैलेनिशिअन लोगों के विश्वास में इस प्रकार धर्म और जादू के परस्पर मिलाव के उदाहरण बहु संख्या में पाये जाते हैं। उच्च संस्कृति के लोगों में भी

कई जगह अभी तक इनका सम्मिश्रण देखने को मिलता है। एक भारतीय विद्वान ने कहा भी है:—

प्रारम्भिक काल से ही जिन बलिदान क्रियाओं के विषय में हमें ज्ञान है, असभ्य जादू-विधियों से परिपूर्ण हैं।

प्रगतिशील फ्रांस के मज़दूरों में अब भी ऐसे व्यक्ति मिलेंगे, जिनका यह विश्वास है कि पुजारी का प्राकृतिक शक्तियों पर विशेष प्रभाव होता है। इसी प्रकार हमारे देश में बहुत से लोगों की यह धारणा है कि समुद्रों का बहाव और तूफ़ानों का उद्भव आदि, स्वामी रामतीरथ जैसे तपस्वियों के वश की बात थी। परन्तु जादूवाद का आधुनिक जगत में जोर नहीं है। वह तो मिथ्या प्रमाणित होने के कारण कभी का नेपथ्य में चला गया और रंगमंच पर उसका स्थान धर्म ने ले लिया है। संसार की सभ्यता की प्रगति के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से मानव विश्वास का जादू से हटकर धर्म पर केन्द्रीभूत होना—एक बड़ी महत्वपूर्ण घटना थी।

धर्म क्या है? और जनसाधारण की इसके विषय में क्या धारणा है? जनसाधारण के मतानुसार धर्म उन महान शक्तियों की चर्चा और स्तुति है, जो मनुष्य से अधिक प्रभुत्वशाली हैं, तथा जो प्राकृतिक शक्तियों व वैयक्तिक जीवन की गति को नियत कर, उन पर शासन करती हैं।

धार्मिक विश्वास और धार्मिक व्यवहार में आकाश-पाताल का भेद है। उदाहरणार्थ दो व्यक्ति जगन्नाथ पुरी के मन्दिर में जाते हैं और मूर्ति के आगे हाथ जोड़कर झुकते हैं—परन्तु यह आवश्यक नहीं कि

दोनों धार्मिक दृष्टिकोण से ही नतमस्तक हो रहे हों। सम्भव है कि एक उस मन्दिर की अद्भुत बनावट का कलाप्रेमी दर्शक हो और दूसरा वहाँ की मूर्ति का वास्तविक भक्त हो। शिल्पकला के प्रशंसक को भी मूर्ति के उपासक की नाई झुकना पड़ा क्योंकि यह उस मन्दिर की प्रथा है। परन्तु इन दो व्यक्तियों के धर्म के विश्वास में बहुत भेद है। धर्म में विश्वास के बिना धार्मिक व्यवहार धर्म नहीं कहलाता, यद्यपि दोनों का परस्पर गूढ़ सम्बन्ध है।

प्राचीन लोगों के लिए कई बार प्राकृतिक शक्तियाँ असह्य हो जाती थीं। उस समय उन तीव्र शक्तियों का सामना करने के लिए उनके पास कोई यन्त्र न था। जाति-जीवन तथा जादू ही उनके भय-निवारण के साधन हो सकते थे। समय की प्रगति से जादू का स्थान धर्म ने ले लिया और धर्म के उद्भव से, दण्ड और पुण्य के नये ही नियमों का निर्माण हुआ—जिनके अनुसार जनसाधारण में यह प्रसिद्ध हो गया कि अच्छे का अन्त अच्छा होगा और बुरे का बुरा। यदि कहीं बुरे कर्मों का इस लोक में दण्ड न भी मिला, तो परलोक में, अर्थात् मृत्यु के पश्चात् अवश्यमेव मिलेगा। समाज के नियमों की बागडोर प्राकृतिक शक्तियों के हाथ में है—इसलिए मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह उनसे डरे। इस प्रकार धर्म सकल संसार की सर्वप्रधान शक्ति बन गई और धर्म के पुजारी उस शक्ति के स्तम्भ माने जाने लगे। अपने सारे दुःखों के निवारण और अंत में मुक्ति की प्राप्ति के लिए लोग धर्म का मुंह ताकने लगे।—यहाँ तक कि एक-दूसरे संसार, अर्थात् स्वर्ग और नरक की माया रचकर, मृत्यु की पहेली को

भी सुलझा दिया गया और यह मत चला दिया गया कि मनुष्य की जो इच्छायें व आकांक्षाएँ इस संसार में पूर्ण न हो पायें, वे सब स्वर्ग में पूर्ण हो सकती हैं। अतः स्वर्ग की महत्ता बढ़ गई और लोग इस जगत में दुःख पाकर भी परलोक सुधारने के लालच में पड़ गए। इसका यह अर्थ नहीं कि अपनी सांसारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उन्होंने धर्म का द्वार खटखटाना बन्द कर दिया। धन-प्राप्ति, वर-वधु प्राप्ति, सन्तान-प्राप्ति, पुत्र-प्राप्ति—अभिप्राय यह कि अनेक छोटी-बड़ी बातों के लिए उन्होंने मनौती मानना और मन्त्र-उच्चारण करना जारी रखा।

और तो और, वर्तमान काल में कुछ लोग वेदों की काल्पनिक कथाओं में भी अपने धार्मिक विश्वास रखते हैं। वे यहाँ तक कहते हैं कि वेदों में भूत, भविष्य और वर्तमान, तीनों कालों का, समस्त ज्ञान भरा है—यहाँ तक कि अणुबम, राकेट आदि भी कोई नये अविष्कार नहीं हैं, उनमें इन सब का उल्लेख है। कइयों के मतानुसार वेदों में सर्वशक्तिमान वशीकरण मन्त्र तक हैं—जिनको जगाकर मनुष्य जो चाहे कर सकता है। प्राचीनकाल में सभी इस मत में विश्वास रखते थे। धीरे-धीरे प्राचीन लोगों का जादू तथा धार्मिक शक्तियों में विश्वास प्राकृतिक शक्तियों के रहस्योद्घाटन की प्रवृत्ति में परिवर्तित हो गया। इससे विज्ञान का उदय हुआ। जिससे प्रमाणित हुआ कि विशाल सागर से सूर्य के ताप के कारण उठाने वाले बादल हवा से टकरा कर बरस पड़ते हैं। पृथ्वी के भीतर गर्मी के कारण जो परिवर्तन होता है, वह धरती को हिला देता है—इन्हें

वर्षा और भूकम्प कहते हैं। परन्तु जब तक विज्ञान का प्रसार नहीं हुआ, तब तक पुराने भ्रम फैले रहे। कठिन समस्याओं और दुःखमय दुविधाओं के सम्मुख अनजाने में ही अपना उत्तरदायित्व कम करने के लिए जनसाधारण ने सारी बातें ईश्वर की अव्यक्तता के अंतर्गत कर दीं। प्रेम के देवता, घृणा के देवता, जीवन के देवता, मृत्यु के देवता, अच्छे देवता, बुरे देवता—चाँदनी, वर्षा, बादल, तूफ़ान, आँधी, भूकम्प—सब के अलग-अलग देवता नियुक्त कर दिये। इस प्रकार मानवों ने अपना उत्तरदायित्व देवताओं व दानवों पर लाद दिया। उनका काम देवताओं को प्रसन्न रखने तक सीमित हो गया। अब देवताओं को विविध ढंगों से प्रसन्न करना ही उनकी कठिनाई तथा समस्या थी। 'देवताओं को प्रसन्न रखना'—उन देवताओं को जो केवल कल्पना में निवास करते हैं। यह एक विचित्र काम था।

प्राचीनकाल में किसी भी कठिन स्थिति का सामना करने के लिए मनुष्य के पास दो ही साधन थे—किसी कठिनाई के सम्मुख हार मान लेना या जादू, टोने अथवा धर्म का उच्चारण करना। उस समय लोगों की 'कारण शक्ति' इतनी न बढ़ी थी। आधुनिक काल में इन दो साधनों के अतिरिक्त एक तीसरे साधन का आविष्कार हुआ है—अर्थात् "वैज्ञानिक व्यवहार"—जिससे वैयक्तिक विकास में प्रगति हुई है। मर जाने के भय को लोगों ने जादू-टोने से निवारण करने का प्रयत्न किया, जादू की असफलता देख, धार्मिक व्यवहार से—परन्तु दोनों के निरन्तर असफल रहने के परिणामस्वरूप—तीसरे साधन—'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' का उन्मूलन हुआ। इससे यह अभिप्राय

नहीं कि पहले दोनों साधनों का अन्त ही हो गया—बल्कि एक अन्य साधन का विकास हुआ, जो समय की प्रगति से अधिकाधिक प्रचलित होता चला जा रहा है।

संसार वैज्ञानिक काल की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा है। छोटे-छोटे मिट्टी के घरों का स्थान बड़े-बड़े पक्के मकानों, उद्योग-धन्धों का स्थान, बड़े-बड़े कारखानों, तलवारों, लाठियों और भालों का स्थान बन्दूक, गोली और राकेट बमों; बैलगाड़ियों का स्थान तीव्र गति से चलने वाली मोटर, गाड़ियों और हवाई जहाज़ों ने तथा जंगली जड़ी-बूटियों का स्थान बड़ी-बड़ी औषधियों ने ले लिया है। परन्तु अभी तक हम जादूवाद व धार्मिक काल से पूर्णतया बाहिर नहीं निकल पाये। मेलोनिशियन, पोलिनिशियन अथवा ट्रोब्रियन्डरज़ जातियों तथा बच्चों की लाखों की संख्या के अतिरिक्त, सभ्य देशों में भी अनेकों व्यक्ति ऐसे हैं, जो अभी तक जादू, टोने और धर्म की यथार्थता में विश्वास रखते हैं और जिनके मतानुसार वर्षा, तूफान, बाढ़ और भूकम्प आदि देवी-देवताओं के क्रोध, रोष व प्रसन्नता पर अवलम्बित हैं। कुल्लु घाटी के आसपास के सभी इलाकों में—रियासत मण्डी तक में जब कभी वर्षा अधिक जोरों से पड़ती है, तो रियासत-भर में एक उथल-पुथल-सी मच जाती है कि "काली देवी रुष्ट है, उसे प्रसन्न करो।" जब कभी काली देवी जनता की प्रार्थनाओं के बावजूद भी अपना क्रोध शान्त नहीं करती तो मण्डी के राजा, उसकी सन्तुष्टि के लिए अपने महलों से पैदल चलकर नंगे पाँव दरया के किनारे काली देवी के मन्दिर के सम्मुख आते हैं और नतमस्तक हो प्रार्थना करते

हैं, जिससे लोगों की उद्विग्नता दूर हो जाती है और उन्हें विश्वास हो जाता है कि अब देवी अवश्यमेव प्रसन्न हो अपना कोप कम करेगी —जिससे वर्षा रुक जायगी। जब एक-दो दिन के बाद वर्षा रुक जाती है, तो वे लोग बड़े गर्व से कहते हैं—'देखा, सप्ताह-भर से वर्षा रुकने का नाम न लेती थी, देवी के प्रभाव से सर्वथा रुक गई। हमने तो पहले ही कहा था, महाराजा साहिब की प्रार्थना से वह बड़े से-बड़े अपराध भी क्षमा कर देती है।' इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े पुजारी अपने निवासस्थान पर कुछ लोगों को बुला, बकरे की बलि देते हैं, फिर सब मिलकर उसका भोज करते हैं। यह भी उनका प्राकृतिक शक्तियों को वशीभूत करने का ही एक टोना है।

देवी-देवताओं की उपासना से हमारे देश का प्राचीन साहित्य, कथायें, ग्रामीण गीत, मूल संस्कार तथा धार्मिक रस्म-रिवाज़ भरपूर हैं—अतः धर्म प्राचीन काल की ही पैतृक सम्पत्ति है—जिसे आज तक हम बड़ी सावधानी तथा उत्सुकता से निभा रहे हैं। दुर्भिक्ष-निवारण के लिए आज तक भी हम यज्ञ रचते हैं। अभी हाल ही में जब बंगाल में ऐतिहासिक दुर्भिक्ष पड़ा, तो उसके निवारणार्थ दिल्ली में एक महायज्ञ हुआ, जिसमें लाखों रुपये व्यय हुए। यह यज्ञ सरकार की सहायता से ही रचा गया था। परन्तु यज्ञ में विश्वास रखने वाले लोगों को इस बात से बहुत खेद हुआ कि यज्ञ भी वर्षा लाने में असफल रहा। इस पर पंडितों ने कहा, कि बंगाल के प्रति देवी रुष्ट है और बंगाल के निवासियों को अपने कर्मों का फल दे रही है। हालांकि बंगाल के निवासियों ने प्रत्यक्षतया कोई विशेष पाप न किये

थे । आज तक भी सहस्रों लोग रोगों के अपहरण के लिए जादूगरों को बुलाते हैं—सम्भवतः इसलिए भी कि साधारण भारतीय डाक्टर की बड़ी-बड़ी फ़ीस देने तथा औषधियाँ खरीदने का सामर्थ्य नहीं रखते । एक निर्धन व्यक्ति आर्थिक संकट के कारण भी जादू-टोने की बागडोर पकड़ता है । अतः मानव की असहायावस्था ही जादू-टोने व धर्म की दीर्घावस्था का मुख्य कारण है । प्रायः सब भाषाओं में अनेकों मुहावरे सुनने में आते हैं, "मरता क्या न करता," "बुढ़ापे में तो कुछ धर्म करो" इत्यादि । देखा जाता है कि मृत्यु के समय लोग ईश्वर को विविध ढंगों से स्मरण करते हैं । 'दुःख में समरन सब करें, सुख में करे न कोय ।' यह कथन बहुत सत्य है । जनसाधारण ने यह सत्य प्राप्त कर भी, इस पर विश्वास करना न चाहा ।

अनजाने में ही कहे गए ये समस्त मुहावरे इस मत की पुष्टि करते हैं कि असहायावस्था मानव के धार्मिक व्यवहार का मुख्य कारण है।

यहाँ तक ही नहीं, यौवन को प्राप्त कर रहे नवजात शिशु को ही देखिये उसे संसार अचम्भों और उलझनों की गुत्थी तथा विचित्र ध्वनियों और अनजान शक्तियों से भरा जान पड़ता है । वह समझता है कि हर चीज़ पर किसी विचित्र ही शक्ति का अधिकार है । धीरे-धीरे वे गुत्थियाँ उसके सम्मुख स्पष्ट होने लगती हैं । उसके जीवन नाटक के प्रथम अभिनेता तथा अभिनेतृ उसके माता-पिता होते हैं। वह उनकी शक्ति पर आश्चर्य करता है—जो उसे अप्राकृतिक-सी

जान पड़ती है। वह देखता है कि माँ-बाप जो-कुछ चाहें कर सकते हैं; जो-कुछ उनसे माँगा जाय, क्षण-भर में जादू के लालटेन की तरह दे सकते हैं। उसके लिए माता-पिता ही सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान होते हैं—वह उन्हें उतना ही शक्तिमान समझता है जितना कि प्राचीन लोग धर्म व जादू टोने को। यहीं पर बालक का धर्म प्रारम्भ होता है। इस प्रकार शिशुत्व में ही बालक के सुकुमार मन में धर्म के बीज बो दिये जाते हैं। और भावांतरण क्रिया उनकी पुष्टि में सहायक होती है। बड़ा होने पर बालक देखता है कि सभी बड़े लोगों में उसके माता-पिता की नाईं ही बल है। इसी काल में उसे धार्मिक उपदेश भी मिलने लगते हैं और वह सोचता है कि उसका विश्वास सर्वथा मिथ्या न था। यदि उसके माँ-बाप नहीं तो और कोई शक्ति अर्थात् ईश्वर तो अवश्य है जो सर्वव्यापी और सर्वशक्तिमान है। और उसकी उपस्थिति वह अपने पूर्वजों की नाईं तूफ़ान, वर्षा, सूर्य और तारों आदि में पाता है।

मुझे याद है, जब मैं पांच या छः वर्ष का बच्चा था तो मेरी आयु के सब बच्चों, और मेरे साथियों को यही कहा गया था कि जब ईश्वर थूकता है तो भूमि पर वर्षा पड़ती है। जिससे हम लोग ईश्वर की कल्पना एक बहुत बड़े देव सम शरीर वाले पुरुष के रूप में करते थे। जब मैंने पहली बार रेडियो को बजते सुना तो मुझे विश्वास हो गया कि इस रेडियो नामक लकड़ी के बक्स के भीतर कोई छोटा-सा बच्चा घुसा होगा अन्यथा लकड़ी का डिब्बा कैसे गा-बजा सकता है? और अवश्य ही वह बच्चा—ईश्वर ने वहां

उत्पन्न किया होगा। कैलिफ़ोरनिया के स्कूल में एक अमरीकन बच्चे से जब पूछा गया कि सूर्य क्या है? तो वह बोला—एक बहुत दृढ़ और शक्तिशाली पुरुष—अर्थात् देवता ने सैन फ्रांसिसको की पहाड़ियों के पीछे से एक जलता हुआ चमकता गेंद आकाश में बहुत ज़ोर से मारा, जो सूर्य रूप में आकाश से ही चिपट गया।' इसी प्रकार बच्चों द्वारा हवा को ईश्वर का संवेग, बर्फ़ानी हवा को देवता का कोप, शीत पवन को देवता की सुखद मानसिक अवस्था और ओस को प्रातः की शीत पवन की सांस कहा गया है। इस प्रकार के मत प्रायः सभी समाजों और श्रेणियों के बच्चों में प्रचलित हैं।

परन्तु जाति-उन्नति तथा वैयक्तिक विकास से, ये मत क्षीण होते चले गए। और मानव की कारण-शक्ति तथा विचार-शक्ति की उन्नति होने से उसने दिनचर्या की छोटी-छोटी क्रियाओं का उत्तर-दायित्व अपने कंधों पर ले लिया—जिससे वह इन छोटी-बड़ी समस्याओं को स्वयमेव सुलझाने लगा।

मनुष्य जब शिशुत्व से यौवन में प्रवेश करता है तो उसके सम्मुख नई समस्यायें बड़े वेग से आ उपस्थित होती हैं और उसके मानसिक जीवन में एक तूफ़ान-सा आता है। प्रबल काम-प्रवृत्ति से धार्मिक भावनाओं में एक प्रतिद्वन्द-सा चलता है। आत्म-यन्त्रणा से तप्त हो मानव स्वर्ग की ओर टकटकी बांधता है। काम-प्रवृत्ति उसे पुकार-पुकार कर कहती है—'अपनी इस अदमनीय कामना को जैसे-तैसे शान्त करो।" परन्तु धार्मिक पुस्तकें कहती हैं—"पुरुष के लिए हर नारी माँ और बहन तुल्य है और स्त्री के लिए हर पुरुष भाई तथा

पिता सम।" काम-प्रवृत्ति अपनी तुष्टि चाहती है, परन्तु सचेत मन उसका विरोध करता है। एक तरफ उसे कुआं नज़र आता है और दूसरी ओर खाड़ी। मानव इन दोनों के मध्य खड़ा आकाश की ओर टकटकी बाँध देखता है। वह कभी एक ओर जाता है तो कभी दूसरी ओर। और इस तरह वह एक कुचक्र में फँस जाता है। परिणामस्वरूप वह अपने अदमनीय स्वप्नों तथा प्रवृत्तियों का दमनकरता है। जिससे उसके मन में एक उथल-पुथल मचती है—एक ज्वार-सा उमड़ता है—जिसका दमन कर, वह अपने उद्धार के लिए देवता के सम्मुख नतमस्तक होता है। परन्तु जितना ही अस्वाभाविक ढंग से वह इस अदमनीय प्रवृत्ति का दमन करता है उतना ही वेग से वह बढ़ती है—और उतनी ही वह देवी-देवताओं की पूजा-प्रार्थना अधिक करता है। शिशुत्व से यौवन में प्रवेश करते समय मानव के सम्मुख यह प्रवृत्ति, समस्या बन जाती है, और शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो इससे ग्रस्त न होता हो।

ऐसी मानसिक स्थिति में यदि वह कहीं से सहारा पा सकता है, तो वह है—ईश्वर। यह तो हम देख ही चुके हैं कि बढ़ता हुआ शिशु अपने पिता को सर्वशक्तिमान समझने के बाद ईश्वर को पिता की दूसरी प्रतिमूर्ति समझने लगता है। प्राय: सभी धर्मों में ईश्वर को बारम्बार 'परम पिता' "सर्व दयालु पिता" और 'हे पिता' आदि कहा गया है। इसमें हमें मनुष्य की अचेतन मन की प्रतिक्रिया का पता चलता है। यद्यपि मानव मन में पिता की सचेत मूर्ति ईश्वर का रूप बदलती है, परन्तु ईश्वर की अचेतन मूर्ति प्रौढ़ावस्था को प्राप्त

व्यक्ति में भी अपने शिशुत्व के पिता का ही दूसरा रूप होती है। बालपन में पिता ही शिशु की क्रियाओं का रक्षक और धार्मिक नेता होता है। परन्तु यौवन में यह ईश्वर का रूप धारण कर लेता है। मानव अपनी असहायवस्था में सहायता प्राप्ति के लिए ईश्वर का पलड़ा पकड़ता है। हर कठिन स्थिति में वह आकाश की ओर टकटकी बांधता है। अपराध-भावना मानव को दुःख, अन्धकार और पीड़ा से भर देती है और वह उनसे मुक्ति के लिए दैवीय शक्तियों के सम्मुख झुकता है।

जीवन में दो अवस्थाओं में मानव मन धार्मिक भावनाओं की ओर परिवर्तित होता है—शिशुत्व से यौवन में प्रवेश करते समय और वृद्धावस्था में। वृद्धावस्था में मानव, मृत्यु के कठोर शासन के सम्मुख अपनी असहायावस्था को अनुभव करता है और नवयौवन में उसी प्रकार की प्रबल सैक्स प्रवृत्ति के शासन से।

सैक्स की प्रबल प्रवृत्ति और सचेत मन के द्वन्द्व का मुकाबला करने के लिए हर युवक को अपनी समस्त शक्तियाँ एकत्रित करनी पड़ती हैं। अमेरिका में धर्म की ओर यकायक झुकाव का अध्ययन करने से पता चला कि प्रायः यह परिवर्तन यौवन में प्रवेश करते समय होता है। स्टारबक, प्रोटैस्टैन्ट चर्चों के लगभग १२५६ व्यक्तियों पर प्रयोग करने के बाद इस परिणाम पर पहुँचे—"ऐसा अनुभव होता है कि धार्मिक झुकाव के लिए भी एक नियत अवस्था है—और वह है लगभग शिशुत्व से यौवन में प्रविष्ट करते समय।" अपने परिचितों तथा मित्रों में ही मैंने अनेकों बार अनुभव किया है कि इस काल में, उनका

'आर्य समाज धर्म' तथा 'सनातन धर्म' आदि की ओर झुकाव हो जाता है—चाहे वह क्षणिक ही हो। मुझे अपना ही अनुभव याद है कि इस काल में मुझे घण्टों प्रार्थना व हवन आदि में भाग लेना बहुत श्रेय लगता था। और प्रायः मैं सोचा करता कि धर्म में विश्वास रखे बिना मानव पशु के तुल्य है। परन्तु समय की प्रगति से ये विचार नेपथ्य में चले गए।

अभी तक हमने धर्म के सर्वप्रमुख कारण का उल्लेख किया है और वह है—जीवन की भागदौड़ में व्यक्ति की असहायावस्था। हम देखते हैं कि प्रायः सभी लोग शिशुत्व, यौवन या वृद्धावस्था में अतीव असहायावस्था का अनुभव कर धर्म का आश्रय ढूँढते हैं। अपनी कठिनाइयों का कोई सहज सुझाव न पा, मानव क्षितिज के पार अन्धकार में देखता है और असीम शून्य में ढूँढने का प्रयास करता है—और यहीं पर उसको धर्म के 'क्षितिज-पार' आचरण का आभास होता है।

मानव अपनी अपूर्ण इच्छाओं को दिवा स्वप्नों द्वारा प्राप्त करने लगता है—और हर कठिनाई में ईश्वर के सम्मुख सहायतार्थ हाथ बाँधता है। अब ईश्वर को तीन प्रकार के कार्यों का अधिपति माना जाता है।

'प्रकृति के त्रासों को झाड़ना-फूँकना, भाग्य की निर्दयता का मानव के प्रति निर्णय करना, और सभ्यता द्वारा लादे गए जातीय जीवन के हानि, अभाव तथा कष्टों का संशोधन करना—अर्थात् प्रतिफल देना।' यह जो तृतीय कार्य का भार ईश्वर को सौंपा गया

है, उससे यह स्वाभाविक हो जाता है कि वह सभ्यता के अभावों और बुराइयों को ठीक कर, एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्तियों पर लादे गए कष्टों की ओर ध्यान दे—और साथ-ही-साथ सभ्यता के नियमों को भी चालू रखे।

ईश्वर के कंधों पर सब उत्तरदायित्व लादने के पश्चात् मानव अपने सच्चे स्वामी का एक आज्ञाकारी तथा तुच्छ भृत्यमात्र रह जाता है। और वह स्वयं को भाग्य, प्रकृति तथा मानव-समाज के नियमों के भयों से मुक्त समझता हैं। इस प्रकार ईश्वर की काल्पनिक सृष्टि कर, कल्पना-चित्रों में व्यस्त मानव, जीवन की अनन्त समस्याओं से विमुख हो जाता है। वृद्ध मृत्युभय से संतप्त नहीं होता क्योंकि वह सोचता है कि शरीर के नाश से वह जड़ नहीं होगा—बल्कि मृत्यु उपरान्त उसका नया स्वर्गीय सुखदायी जीवन प्रारम्भ होगा; पीड़ित अथवा वंचित अपनी वस्तु को खो दीनता में भी इतना दुःखी नहीं होता क्योंकि उसे विश्वास होता है कि इस लोक में नहीं तो परलोक में, बुरे व्यवहार का फल बुरा और भले का भला मिलेगा; निर्धन इतना विरक्त नहीं होता क्योंकि उसे यकीन हो जाता है कि यदि वह इस जीवन में ईमानदारी से रहेगा तो निश्चय ही परलोक में उसके सम्मुख धन के कुबेर खुले होंगे—अर्थात् उसका परलोक सुखमय होगा; परोपकारी तथा परमार्थी स्वयं को दबा हुआ तथा कुचला हुआ नहीं समझता क्योंकि वह सोचता है कि यह जीवन तो स्वर्गीय जीवन की भूमिका है—अर्थात् इस जीवन का एकमात्र ध्येय परलोक को सुधारना है; त्यागी तथा तपस्वी इसी तत्व को तथ्य

समझकर चलते हैं कि इस संसार में यदि उन्होंने जीवन के आनन्दों का उपभोग न किया तो निस्सन्देह स्वर्ग में उन्हें अच्छे-अच्छे पकवान, अप्सरायें, उपभोग तथा स्वर्गीय आनन्द प्राप्त होंगे। उसे पूर्ण विश्वास होता है कि उस तथाकथित स्वर्ग में 'हूर' 'परी' और अप्सराओं का वास होता है जहाँ मानव सांसारिक कष्टों को विस्मरण कर अनन्त आनन्द तथा विलास में चिरकाल तक रहेगा। वह स्वर्ग—जहाँ वह ब्रह्म में लीन होगा, जहाँ 'सत्', 'चित्', 'बुद्धि', 'आनन्द' और 'विलास' का वास होगा—जिन्हें मनुष्य इस जीवन के कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त कर सकता है।

धर्म की उत्पत्ति का मुख्य कारण मानव की असहायावस्था है, परन्तु यही एकमात्र कारण नहीं।

इस स्वप्न-संसार के अनेकों अन्य कारण मानव को धर्म की ओर प्रेरित करते हैं। वे सब कारण किसी प्रकार भी गौण नहीं। इनमें से 'अपराध-भावना' भी एक कारण है। सहस्रों ऐसे व्यक्ति देखे गए हैं, जिन्हें बारम्बार धोने की क्रिया का रोग है। वे हाथ, कपड़े या फ़र्श को बार-बार निरुद्देश्य धोते हैं—हर बार उन्हें ऐसा अनुभव होता है कि अमुक वस्तु व पदार्थ ठीक-ठीक नहीं धोया जा सका। इस प्रकार धोने की क्रिया से ग्रस्त अनेकों व्यक्तियों का विश्लेषण करने पर पता चला कि वे उस धोने की प्रत्यक्ष क्रिया द्वारा अपने किसी अज्ञान सैक्स अथवा ध्वंसात्मक भावना के अपराध को धोते हैं। प्रत्यक्ष में धोने की क्रिया चिह्नात्मक रूप में उनके अपराध धोने का ही प्रतिरूप है—और अपराधों को धोने की अज्ञात इच्छा के

कारण ही वे इस धोने के 'मेनिया' (Mania) से ग्रस्त होते हैं। शारीरिक व मानसिक—अतीव स्वच्छन्दता तथा पवित्रता—धर्म का एक प्रमुख विषय है। इसके अतिरिक्त कई बार हम ऐसे असाधारण व्यक्ति देखते हैं, जो स्वयं को शहन्शाह, ज्योतिषि, सर्वज्ञानी कहकर अपना प्रभुत्व दिखाना चाहते हैं। धर्मक्षेत्र में ऐसे व्यक्तियों की कमी नहीं, जो स्वयं को बड़ी दृढ़ता से ऊँचे-ऊँचे शब्दों में ईश्वर-दूत अथवा जगत को धार्मिक शिक्षा देने के लिए भेजें गए सर्वशक्तिमान् का राजदूत कहते हैं—यद्यपि बातचीत, वाद-विवाद, आचार-व्यवहार तथा आचरण से वे किसी भी पागलखाने के वासी से कम नहीं होते। इसी प्रकार के भ्रमों से कुछ राजनीतिक नेता भी ग्रस्त होते हैं—अन्तर केवल इतना होता है कि वे स्वयं को सर्वतोमुख न कहकर, अपनी संस्था को सर्वश्रेष्ठ कहते हैं—और इस प्रकार अपने अनेकों अनुयायी व आराधक बनाते हैं। अतः उनमें एक प्रकार का सामूहिक पागलपन-सा उत्पन्न हो जाता है—जो वैयक्तिक पागलपन से बहुत सादृश्य रखता हैं, परन्तु यह वैयक्तिक पागलपन से भी अधिक रहस्यमय हो जाता है। क्योंकि एक व्यक्ति जब अनोखी अनहोनी बातें कहे तो पागलखाने की चहारदिवारी में भी भेजा जा सकता है परन्तु एक बड़ा गिरोह या किसी देश की बहुसंख्या एकत्रित हो ऐसा व्यवहार दिखाये तो उसका सुझाव ढूँढना कठिन है। पाकिस्तान व हिन्दुस्तान का सामूहिक स्थान-परिवर्तन काण्ड भी इस प्रकार के सामूहिक उन्माद का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।

दूसरे दो विशेष अंग हैं—द्विरभाव की अभिव्यक्ति और धर्म का चिह्नात्मक रूप।

शिशु अपने पिता को केवल प्यार ही नहीं करता बल्कि घृणा भी करता है, अर्थात् उसका पिता के प्रति प्रेम और घृणा का मिश्रित झुकाव होता है। वह पिता से प्रेम करता है—क्योंकि पिता उसका रक्षक है और उसके जीवन की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। कई अवसरों पर वह उससे घृणा करता है क्योंकि शिशु अनेकों ऐसी वस्तुएँ प्राप्त करना चाहता है, जो बाप उसे दे नहीं पाता। अनेकों ऐसे कार्य करना चाहता है, जिन पर उसे बाप की डाँट पड़ती है; अनेकों ऐसी क्रियाएं करना चाहता है, जिनमें बाप बाधा डालता है। हम प्राय: बच्चों को कहते सुनते हैं—'पापा बहुत बुरे हैं', 'माता बहुत गन्दी है', 'जा पापा, मैं तेरे साथ नहीं बोलता; तू गन्दा है।' इत्यादि इत्यादि। परन्तु धार्मिक ग्रन्थों तथा बड़े बूढ़ों का कथन है कि बच्चों को अपने माता-पिता से प्रेम का व्यवहार रखना चाहिये। इस कथनानुसार शिशु की घृणा की प्रवृत्ति को दबाया जाता है, जो दमन होकर अचेतन मन में एकत्रित हो जाती है; परन्तु किसी भी प्रवृत्ति या भाव का पूर्णतया नाश नहीं किया जा सकता। अत: दमन किये गए भाव, प्रवृत्तियाँ तथा इच्छाएँ समय-समय पर, सादृश्य रखने वाली भूलों, स्वप्नों आदि में व्यक्त हो जाती हैं।

कई प्राचीन कबीलों में प्रथा है कि पिता की मृत्यु पर वे भोज करते हैं और नाच-गाने आदि का प्रबन्ध होता है। पुत्र जाकर अपने पिता की चिता पर मल-त्याग करता है, जो प्रत्यक्षत: पिता के

प्रति दुर्भाव का चिह्न है। हिन्दू धर्म में भी जब कोई व्यक्ति बड़ी आयु में मरता है, तो उसके दाह-संस्कार पर, उसके सम्बन्धी भोज करते हैं, मिठाइयाँ बाँटते हैं और आनन्द मनाते हैं। मुसलमानों में भी इसी प्रकार की प्रथा है।

यदि हम किसी व्यक्ति की मृत्यु की कामना नहीं करते और उसकी मृत्यु से हमें कोई प्रसन्नता नहीं होती, तो भला हम यह भोज और आनन्द के साधन क्यों बटोरते हैं? यह बात प्रत्यक्षतया इस मत की पुष्टि करती है कि हम जाने में या अनजाने में उस व्यक्ति की मृत्यु चाहते हैं, अन्यथा हम कभी उसके संसार से विदा होने पर प्रसन्न न हो पाते।

प्रेम और घृणा के यह भाव धर्म और देवताओं पर आरोपित कर दिये गए हैं। सर्वशक्तिमान परमात्मा को दया से सम्पन्न करते हुए, व्यक्ति को एक ऐसी दैवीय शक्ति की रचना भी करनी पड़ी जिसे वह अपने पिता के घृणित तथा द्वेषी भाग का रूप दे सके। और उस घृणित तथा द्वेषी पिता का रूप है—दानव, राक्षस, काली माँ तथा चण्डी देवी इत्यादि। ईसाई धर्म में एक वार्षिक उत्सव मनाया जाता है जिसमें ईसाई लोग गिरजाघर में जाकर रोटी और मदिरा का प्रसाद लेकर आते हैं और उनका विश्वास है कि उसे खान से वे क्राइस्ट (Christ) की हड्डियाँ, मांस अथवा रक्त पान कर, अपने अन्दर उसके गुणों को ग्रहण कर रहे हैं। यह बहुत ही हननात्मक तथा ध्वंसात्मक कल्पना है जिससे अचेतन रूप में वे अपने पिता के प्रतिरूप ईसा की हत्या कर, भोज करते हैं।

फ्रायड ने अपनी पुस्तक 'टोटम एण्ड टैबू' में अनेकों ऐसे उदा-

हरण दिये हैं जिसमें आदिप्रतीक कबीलों में, प्रेम और घृणा के द्विर-भाव का उल्लेखन है। भिन्न-भिन्न कबीलों के भिन्न-भिन्न आदि-प्रतीक हैं, जो उन कबीलों के लिए निषेधित हैं अर्थात् वे कबीले वर्ष-भर अपने 'आदिप्रतीक' (Totem) का पूजा-सत्कार करते हैं, परन्तु वर्ष के बाद एक नियत दिन को वे उसका हनन करते हैं और उत्सव मनाते हैं।

इन कबीलों के आदिप्रतीक भी व्यक्ति के शिशुत्व के पिता का प्रतिरूप हैं और कबीले वालों का इनके प्रति दुर्भाव होता है, जैसा कि शिशु का अपने पिता के प्रति होता है। वे आदिप्रतीक से प्रेम करते हैं, उसकी पूजा करते हैं, और उसका हनन करते हैं जो उनकी दबी हुई घृणा का प्रमाण है।

धर्म का चिह्नात्मक रूप:—धर्म में द्विरभाव के व्यवहार पर विचार करते हुए हमें उसकी चिह्नधारा के विषय में भी कुछ-कुछ पता चलता है। कबीले वालों में आदिप्रतीक को मारने की प्रथा पिता के प्रति घृणा का एक प्रतिरूप है। बारम्बार धोने की क्रिया से ग्रस्त लोगों के लिए बार-बार हाथ धोना अनजाने में ही अपराधों को धोने का चिह्न है। इसके अतिरिक्त अनेकों ऐसे मन्दिर हैं, जहाँ आज तक 'लिंग' और 'योनि' की पूजा की जाती है—जहाँ गाय, बकरियों और भेड़ों की बलियाँ दी जाती हैं। इन सब प्रमाणों को ध्यान में रखते हुए हम कैसे इस तथ्य की अवहेलना कर सकते हैं कि ये मन्दिर और पूजास्थान चिह्नरूप में हमारी, दबी हुई काम तथा

ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों की पूर्ति के साधन हैं ?—और सम्भवतः यही इन स्थानों के आकर्षण का कारण है ।

मनोविश्लेषण

सिगमण्ड फ्रायड मनोविश्लेषण के आविष्कर्ता थे। उन्होंने पहले-पहल इस तथ्य को प्रमाणित किया कि मन का रोगों के साथ गूढ सम्बन्ध है, अत: अनेकों रोग, रोगी की मानसिक दशा का परीक्षण करने से ठीक हो सकते हैं, अर्थात् उन्होंने मानसिक व्याधियों की इस नई चिकित्सा-प्रणाली को चलाया। विश्लेषण के दो अर्थ हो सकते हैं : पहला—फ्रायड द्वारा निर्धारित मानवमन की छानबीन करने की विधि अर्थात् जीवन का व्यक्तिगत रूप और दूसरा, इस प्रकार एकत्रित किये गए अनुभवों से निकाले गए सिद्धान्त।

निश्चयवाद फ्रायड के अन्वेषणों का मूल तथ्य है। फ्रायड के मतानुसार हमारी मानसिक धाराएँ, क्रियाएँ तथा भावनाएँ, अचेतन संचालक कारणों द्वारा निश्चित होती हैं—और हमारे संवेग ये निश्चित करने वाले कारण हैं। हमारे मनोभावों, कामनाओं, विश्वासों तथा लगावों को नियत करने वाली शक्तियों को हम जानते तक नहीं, और संचालक कारण व्यक्त नहीं हो पाते क्योंकि हमारी उन्हें व्यक्त करने की इच्छा नहीं होती। 'प्रत्येक मानसिक व शारीरिक घटना का कोई अग्रगामी कारण होता है। फ्रायड का यह मत इसी विचार के विकास पर निर्धारित है। यह 'पूर्ण निश्चयवाद' ही उनकी

प्रत्येक मानसिक समस्या के सुझाव का मूल तत्व है।

फ्रायड के अचेतन मन के सिद्धान्त को हम दूसरे दर्जे पर रख सकते हैं। अचेतन मन की सत्ता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने स्वप्नों, भूलों तथा 'कृत्रिम निद्रोत्तर निर्देश' आदि का निरीक्षण किया। उन्होंने अपने चिकित्सालय से ली हुई सामग्री से बहुत से तत्व निचोड़े हैं। बहुत से ऐसे विचार, ऐसी स्मृतियों तथा समस्याओं के सुझाव हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि मानसिक धाराएँ हमारे अनजाने में भी चलती रहती हैं। चेतन व अचेतन संचालक कारणों का द्वन्द तो हमें संज्ञा-हीनता तथा निद्रा-विचरण की मानसिक अवस्थाओं से ही प्रत्यक्ष हो जाता है।

अचेतन मन तथा दूसरे मतों को समझने के लिए स्वप्नों तथा भूलों के विषय में कुछ जानना आवश्यक है।

फ्रायड के मतानुसार स्वप्न उन उद्दीपनों के प्रति मन की प्रतिक्रियाओं के रूपक हैं जो निद्रावस्था में भी तत्पर रहती हैं। स्वप्नों का मुख्य उद्देश्य निद्रा को निर्विघ्न रखना है। स्वप्नों का प्रत्यक्ष रूप अप्रत्यक्ष रूप से बहुत भिन्न होता है। ये हमारी उन दमन की गई इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, जो वास्तविक जगत में अपूर्ण रहीं। ये इच्छाएँ गुण स्वभाव में अपरिपक्व होती हैं। उन्होंने पहले-पहल बताया कि स्वप्न अचानक शारीरिक परिस्थितियों द्वारा निश्चित, निरर्थक अंट-शंट कल्पनाओं की गुत्थी नहीं, बल्कि मनुष्य की दमन की गई इच्छाओं, आशाओं तथा आकांक्षाओं की पूर्ति करते हैं और इनका विश्लेषण करने पर रोगी की अचेतन मानसिक धाराओं के विषय में

मूल्यवान ज्ञान प्राप्त होता है। ये दमन की गई अचेतन मन की इच्छाएँ वेष बदल कर ही व्यक्त हो सकती हैं क्योंकि इन्हें सुपरि अहम् के निरन्तर निरीक्षण से बचने के लिए उपर्युक्त कल्पना-चित्रों का आश्रय लेना पड़ता है।

इच्छाओं को अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्यक्ष में परिवर्तित करने की मानसिक धारा को फ्रायड ने स्वप्न-क्रिया का नाम दिया है। अतः स्वप्न क्रिया को वास्तविक रूप में परिवर्तित करना ही विश्लेषण का कार्य रह जाता है। इच्छाओं के वेष परिवर्तन तथा उनको विकृत रूप देने के लिए अचेतन मन बहुत-सी विधियाँ प्रयोग में लाता है। इसमें सर्वप्रथम है स्वप्न की नाटकीयता—जिससे अचेतन मन निराकार कल्पना-चित्रों को साकार रूप में परिवर्तित करता है। उदाहरणार्थ, स्वप्न में विवाह-सम्बन्ध को तोड़ने की क्रिया, हाथ या पाँव को तोड़ने से व्यक्त होती है। घनीकरण प्रतिक्रिया द्वारा बहुत-सी अप्रत्यक्ष भावनाएँ संक्षेप में प्रत्यक्ष रूप में प्रकट होती हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष स्वप्न की एक धुंधली-सी परिस्थिति अचेतन मन में दबी चार-पाँच इच्छाओं की एक साथ ही पूर्ति कर सकती हैं। उदाहरणार्थ, हम कई बार देखते हैं कि स्वप्न में एक धुंधली-सी आकृति कई रूप प्रदर्शित करती है—एक ही समय में वह 'माँ' 'बाप' अथवा 'देवरूप' में दिखाई देती है। इस प्रकार स्वप्नों के विश्लेषण द्वारा पता चलता है कि उस एक आकृति ने ही स्वप्न में तीन व्यक्तियों का रूपण किया। तीसरी है—स्थानान्तर क्रिया। इसके द्वारा 'सुपरि-अहम्' को धोखा देने के लिए स्वप्न में आवश्यक भाग अनावश्यक

रूप में और अनावश्यक आवश्यक के रूप में परिवर्तित हो जाता है। उदाहरणार्थ एक व्यक्ति ने स्वप्न में देखा कि 'उसने सिनेमा शो के लिए घबराहट में जल्दी से तीन टिकट खरीदने के बाद देखा कि वे तीनों ही खराब हैं।' स्वप्नद्रष्टा की मानसिक स्थिति का विश्लेषण करने पर पता चला कि वह अपने विवाह से असन्तुष्ट था और उसकी अप्रत्यक्ष स्थिति कुछ इस प्रकार थी—"इतनी जल्दी विवाह करना भारी भूल थी—जैसे इतनी जल्दी में टिकटें खरीदना भी भूल थी। भाभी का—जल्दी में एक ही आभूषण पर इतना व्यय कर देना भी भूल थी।"

इस प्रकार उपरोक्त स्वप्न में विवाह रूपी आवश्यक घटना को टिकट खरीदने का अनावश्यक रूप दे दिया गया है।

इसके अतिरिक्त कई बार अर्धचेतना में स्वप्न उपर्युक्त रूप धारण कर लेते हैं। कई अनुचित, असामाजिक तथा असंगत शैशवकालीन सैक्स सम्बन्धी इच्छाएँ अथवा ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ बहुत सरल साधारण रूप में प्रकट होती हैं। जैसे कि बहुत बार पेंसिल, पैन, कलम, मोमबत्तियाँ, वृक्ष खम्भे आदि लिंग को, तथा बरतन, गढ़े, दवात आदि योनि को चिह्नित करते हैं।

भूलें—दिनचर्या की छोटी-छोटी भूलें जो पहले निरर्थक समझी जाती थीं, फ्रायड ने उनका विश्लेषण करने पर प्रमाणित किया कि वे दबी हुई इच्छाओं की रूपान्तर हैं और अचेतन मन के उद्देश्य व संचालक कारणों द्वारा निश्चित होती हैं। एक नवयुवती ने एक होटल आगन्तुक-लिस्ट में अपना गोत्र लिखने की अपेक्षा वह गोत्र लिख

दिया, जिसको वह प्राप्त करना चाहती थी। जिस युवक का गोत्र उसने लिखा था, उसने उसे अभी तक विवाह का निश्चय भी प्रकट न किया था। इसी प्रकार एक अन्य भूल में एक बार हमारे एक मित्र ने अपने एक सम्बन्धी को, जो उससे नीची श्रेणी का था तथा जिसे वह अपने घर बुलाना न चाहता था, निम्न निमन्त्रण पत्र भेजा—

"यदि आप मेरे घर सायंकाल ५ बजे चाय पीने के लिए आवें तो 'मेरी' बड़ी कृपा होगी।" जबकि उसे लिखना चाहिये था "आपकी बड़ी कृपा होगी।" इस प्रकार हम देखते हैं कि ये भूलें अनायास ही नहीं होतीं बल्कि इसके पीछे कोई-न-कोई उद्देश्य छिपा रहता है।

कृत्रिम निद्रोत्तर निर्देश—कृत्रिम निद्रोत्तर निर्देश में किसी विषय को निद्राविभूत करके चिकित्सक उसे कोई निर्देश देता है और देखा जाता है कि आदेशानुसार विषय स्वयं ही निश्चित समय वह कार्य करता है। जैसे कि एक व्यक्ति को निद्राविभूत करके कहा गया कि "तुम्हें सायंकाल ठीक ४ बजे डाकखाने के समीप पहुँच कर घण्टा-भर घूमना है।" उपरोक्त निर्देश देकर उसे जगा दिया गया। देखा गया कि उस दिन शाम को ठीक ४ बजे वह डाकखाने के पास पहुँच-कर घूमने लगा। जब उससे पूछा गया कि वह उस समय वहाँ किस कारण आया, तो उसे तनिक भी ज्ञात न था कि वह वहाँ क्योंकर आया। पहले वह कहने लगा कि 'उसे उस समय वहाँ किसी मित्र के मिलने की आशा थी और वह उसकी प्रतीक्षा कर रहा था—तत्पश्चात् बोला कि 'नहीं, वह वहाँ यूँही घूमने चला आया था।' यद्यपि यह कोई घूमने का स्थान व समय न था।

यदि हम अचेतन मन की सत्ता को मानने से इन्कार करें, तो प्रश्न उठता है कि यह निर्देश उस व्यक्ति के मन के किस कोने में छिपा था जबकि उसके सचेतन मन को कदाचित इस बात का बोध न था कि उसे डाकखाने के समीप पहुँचने का निर्देश मिला था। इससे पता चलता है कि चेतन मन से परे भी कुछ मानसिक प्रक्रियाएँ हैं जहाँ हमारी स्मृतियाँ, उद्देश्य व इच्छाएँ गुप्त रूप में कार्यान्वित रहती हैं।

फ्रायड के मतानुसार जिन समस्त इच्छाओं, आकांक्षाओं तथा उद्देश्यों का शारीरिक, धार्मिक, आर्थिक अथवा अन्यान्य परिस्थितियों के कारण वास्तविक जीवन में खण्डन हो जाता है, वे सब हमारे मन के नेपथ्य में चली जाती हैं। और ये विफल हो, दमन की गई इच्छाएँ, जो पूर्ति के लिए निरन्तर संघर्ष करती हैं, हमारे अचेतन मन का मुख्य भाग हैं।

अचेतन मन के कल्पना-चित्र, दमन करने वाली बाधाओं को भंग करने पर ही व्यक्त हो सकते हैं और इन बाधाओं का खण्डन केवल विश्लेषण द्वारा ही सम्भव है। पहले हमें दमन का कारण, दमन को प्रेरित करने वाली शक्तियों तथा दमन के परिणाम का पता होना चाहिये।

दमन—अचेतन मन हमारे अपरिपक्व, असभ्य तथा पाशविक जीवन का प्रदर्शक है। इसमें हमारे व्यक्तिगत तथा जाति के परम्परागत जीवन की दमन की गई इच्छाएँ छिपी रहती हैं। किसी संवेग अथवा सम्मोह को चेतना से परे धकेल देने को फ्रायड ने दमन का

नाम दिया है। दमन होकर भी वह संवेग पूर्ववत् ही शक्तिशाली रहता है—केवल हमें उसकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं होता। इच्छाओं को चेतना से दूर रखना ही, दमन का तत्व है। जो प्रवृत्तियाँ धर्म सम्बन्धी नियमों व समाज की रीतियों के प्रतिकूल हैं, सुपरि-अहम् उनकी पूर्ति में बाधक है। और शमित हो वे प्रवृत्तियाँ अचेतन मन में चली जाती हैं—यही दमन का मुख्य रूप है। जब मूल प्रवृत्तियों का दमन होता है तो उनमें लिविडो का अंश चिह्न में परिवर्तित हो जाता है और ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों का अंश विकार भावनाओं का रूप धारण कर लेता है।

(Idd) **इड**—सुपरि-अहम् इड़ के विपरीत है जबकि अहम्भाव इसका विरोधी है। इड़ व्यक्ति की मूल प्रवृत्तियों का शक्ति-स्रोत है। यह कई दृष्टिकोणों से अचेतन मन के सादृश्य है परन्तु दोनों शब्दों को एकरूपता नहीं दी जा सकती। क्योंकि अहम्भाव तथा सुपरि-अहम् के कुछ भाग अचेतन मन के अंग हैं। परन्तु सुपरि-अहम् तथा अहम्भाव के ये भाग इड़ के मुकाबले में बहुत छोटे हैं क्योंकि वह तो पूर्णतया अचेतन है।

अहम्भाव—इड़ के बाह्य जगत के साथ सम्बन्धित भाग को अहम्भाव कहते हैं। इड़ प्राचीनतम है—और अहम्भाव का इड़ में से बाहरी जगत के प्रभाव से उसी प्रकार प्रादुर्भाव हुआ है जिस प्रकार वृक्ष के इर्द-गिर्द छाल का। शिशुत्व और बाल्यावस्था में अर्ध-चेतन अवस्था से गुज़रते हुए, इड़ में से अहम्भाव का उद्भव हुआ है। इड़ और अहम्भाव का भेद तो जीवन के प्रथम वर्ष से ही

प्रारम्भ हो जाता है। परन्तु किशोरावस्था में यह पूर्णतया विकसित होता है। अहम्भाव को एक साथ तीन शासकों की आज्ञा पालन करनी पड़ती है। यह तीनों ओर से इड़, सुपरि-अहम् और बाहरी जगत से घिरा हुआ है। दुर्बलता अहम्भाव का विशेषांग है। शक्ति का स्रोत तो इड़ है—इसलिए अहम्भाव सर्वदा ऋण लेकर जीता है। हमारी समस्त मानसिक क्रियाएँ 'दुःख से भागने और सुख खोजनें' के नियम पर निर्धारित हैं। सैक्स सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ आदि से अन्त तक आत्मतुष्टि की खोज में लगी रहती हैं। बाल्यकाल में अहम्भाव सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ इसी सुख खोजने के नियम से चिपटी रहती हैं परन्तु वास्तविकता की रगड़ से ये शीघ्र ही तर्कशील बन जाती हैं और सुख खोजने के नियम को त्याग कर वास्तविकता के नियम का अनुसरण करने लगती हैं। यद्यपि सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर वास्तविकता का नियम भी, सुख खोजने के नियम का ही अनुसरण करता है परन्तु ऐसा करने में वह वास्तविकता के नियम का उल्लंघन नहीं करता। इस प्रकार सुख खोजने केनियम से वास्तविकता के नियम तक अहम्भाव को बहुत-सी अनिवार्य अवस्थाओं में से गुज़रना पड़ता है।

सुपरि-अहम्—दमन की व्याख्या करने के लिए फ्रायड ने सुपरि-अहम् की कल्पना की और बताया कि अहम्भाव और सुपरि-अहम् के कुछ भाग सर्वदा अचेतन मन में रहते हैं। यह एक प्रकार का तिरछा विभाजन हो गया जिसके द्वारा सारी मानसिक क्रियाओं की, अहम्भाव, सुपरि-अहम् और इड़ की शक्तिमय परस्पर क्रिया-

प्रतिक्रिया के रूप में व्याख्या की गई है।

सुपरि-अहम् का जन्मदाता मुख्यत: उसी लिंग का माता-पिता होता है, जिस लिंग का स्वयं शिशु हो। उसे शिशु की बहुत प्रारम्भिक धार्मिक कोड़ के रूप में देखना चाहिये। यह अहम्भाव से उद्भव हुई है और उसी पर शासन करती है, जैसे अहम्भाव का इड़ से प्रादुर्भाव हुआ है और वह उसी पर शासन करता है। यह हमारी सभ्यता, संस्कृति और शिष्टाचार के नियमों का सार है और इड़ से सर्वदा इसकी मुठभेड़ रहती है।

लिबिड़ो—फ्रायड ने लिबिड़ो की निम्न शब्दों में व्याख्या की है—'लिबिड़ो उन प्रवृत्तियों की संगठित शक्ति है जो प्रेम से सम्बन्ध रखती हैं।' उनका मत है कि हम आत्म-प्रेम, माता-पिता के प्रति प्रेम व वात्सल्य प्रेम, मानव जाति के प्रति प्रेम, मित्रता अथवा नाना प्रकार के द्रव्यों, विचारों व आदर्शों के प्रति प्रेम को सैक्स प्रेम से भिन्न नहीं कर सकते। इस मत की पुष्टि मनोविश्लेषण द्वारा की गई खोज से होती है, जहाँ हमें ज्ञात होता है कि ये सभी प्रवृत्तियाँ इसी एक मूल प्रवृत्ति का प्रतिरूप है।' फ्रायड ने लिबिड़ो को एक जीवन शक्ति के रूप में बहुत विशाल अर्थों में लिया। इसलिए मनुष्य के मानसिक जीवन का यह एक अटूट अंग है।

लिबिड़ो कई कामोत्मादक अंगों द्वारा प्रोत्साहित की जा सकती है। यद्यपि इसकी स्पष्ट शब्दों में व्याख्या नहीं की गई, फिर भी लिबिड़ो सिद्धान्त की मूल धारणा कुछ इस तरह है कि आनन्दमय प्रकृति की शारीरिक इन्द्रिय वृत्तियाँ व चेष्टाएँ जैसे चूसना, मलत्याग, बदहज़मी

मांसपेशियों के संचालन तथा त्वचा की अनुभूतियों आदि का उद्भव काम प्रवृत्ति से हुआ है। यद्यपि अनुभव के साथ फ्रायड ने अपना मत बहुत बदल लिया और आत्मक्रियाओं तथा जीवन और मरण मूल प्रवृत्तियों के सिद्धान्तों में सम्मिलित कर लिया।

जब उन्होंने शिशु के मानसिक विकास तथा उसमें लिबिड़ो के स्थान के विषय में अपनी धारणा प्रकट करते हुए कहा कि शिशु में उत्पत्तिकाल से ही शारीरिक रूप में निश्चित सैक्स उत्तेजना होती है, तो लोगों ने उनका कटु खण्डन किया।

फ्रायड ने कहा "तृतीय वर्ष से तो शिशु का सैक्स जीवन प्रत्यक्ष ही हो जाता है। प्रत्येक नेत्रयुक्त व्यक्ति इस तथ्य का निरूपण कर सकता है।" इस अवस्था की कुमारावस्था के सैक्स जीवन से बहुत समानता है। लिबिड़ो के विकास के विषय में बताते हुए फ्रायड कहते हैं कि उत्पत्ति के समय लिबिड़ो समस्त शरीर में विकसित होती है। विकास की पहली अवस्था में शिशु का मुँह कामोत्पादक अंग का कार्य करता है। शिशु की उँगुली, अंगूठा, चूसनी आदि चूसने की क्रियाएँ विशाल रूप में कामप्रवृत्ति के ही रूप हैं। जिस प्रकार शिशु माता का दूध पीकर उसके आंचल में आनन्दमय अवस्था में लीन हो सोता हैं—यह अवस्था पुन: उसे सम्भवत: युवावस्था की सैक्स सम्बन्धी क्रिया में ही प्राप्त होती है। पहली बार यह आनन्द उसे माता के स्तनों द्वारा भूख की तुष्टि करते समय मिलता है परन्तु बाद में भूख से उस आनन्द का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, और वह केवल आनन्द का ही रूप रह जाता है।

लिबिड़ो के विकास तथा आनन्द के भूख से पृथक् होने के साथ-साथ शिशु अपने ही शरीर में कामोत्पादक अंगों की खोज प्रारम्भ करता है ताकि उसे आनन्दप्राप्ति के लिए बाहरी जगत पर आश्रित न रहना पड़े। और इसी खोज में वह अपने शरीर के अन्य कामोत्पादक अंग—मलद्वार को आनन्दप्राप्ति का मुख्य साधन बना लेता है। जिस प्रकार वह पहले खाने-पीने और चूसने की क्रिया द्वारा आनन्द-प्राप्ति करता था, उसी प्रकार अब मल-मूत्र त्यागने आदि की क्रियाओं द्वारा करता है। मल-मूत्र की वस्ति में अधिक देर तक रोकने से जो संवेदना होती है—इस अवस्था में वह बच्चों को बहुत रुचिकर लगती है। प्राय: इस आयु में बच्चों की आंतों में सोज़िश हो जाती है जिससे मलद्वार के प्रदेश में सुग्राह्य उत्तेजना (Sensitive irritations) होती हैं, और वही बच्चे की स्नायविक अस्वस्थता का कारण बन जाती हैं। इसका बाद में होने वाले स्नायु-सम्बन्धी रोगों पर भी विशेष प्रभाव पड़ता है। जान-बूझ कर मल को रोकने की चेष्टा बाद में कब्ज़ का एक स्वाभाविक कारण होती है, जिससे प्राय: स्नायुरोगी ग्रस्त होते हैं।

धीरे-धीरे स्वभावत: ही बच्चा जान जाता है कि वह मल त्यागने व रोकने की क्रिया से माता को रुष्ट अथवा प्रसन्न कर सकता है। इस प्रकार यह क्रिया किसी व्यक्ति को तंग करने के लिए शिशु के सम्मुख भयानक शस्त्रों का चिह्न बन जाती है। साधारण अनुभव में ऐसे बच्चों की कमी नहीं, जो रुष्ट होकर माँ-बाप को तंग करने के लिए अपने कपड़े गन्दे कर लेते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे शिशु हैं,

जिनके लिए मल सोने अथवा उपहारों का चिह्न बन जाता है और वे जब किसी से बहुत प्रसन्न हों, तो मल त्यागते हैं। ये चिह्नात्मक क्रियाएँ बच्चे के भावी जीवन पर बहुत प्रभाव डालती हैं।

विकास की तृतीयावस्था में मौखिक और मलद्वार सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ लिंग, अंग प्रवृत्ति से प्रभावित हो जाती हैं। इसे लिबिडो के विकास की लिंगावस्था कहा जाता है। यह अवस्था तृतीय वर्ष से प्रारम्भ होती है—जबकि शिशु कामतुष्टि के लिए अपने लिंग को उत्तेजित करता है। पांच या छः वर्ष की आयु में शिशु की कामप्रवृत्ति का विकास मन्द पड़ जाता है, रुक जाता अथवा कई बार उसका प्रत्यागमन हो जाता है। जिससे बच्चे में सांस्कृतिक विकास होता है—इसीलिए इसे शमन काल (Latency period) कहते हैं। इससे हम अनुमान लगाते हैं कि इस अवस्था में कामप्रवृत्ति का सुपरि-अहम् से द्वन्द्व हो जाता है, क्योंकि अब सुपरि-अहम् असभ्य, आत्मकेन्द्रित तथा असामाजिक प्रवृत्तियों का दमन करने के लिए अपेक्षाकृत विकसित हो जाता है। शिशु विकसित सुपरि-अहम् तथा अहम्भाव के बोझ से दबकर प्रारम्भिक यौन-सम्बन्धी क्रियाओं को भूल जाता है और उनकी सुसंस्कृत तथा चिह्नात्मक रूप में ही तुष्टि कर सकता है। इसीलिए इस आयु में बच्चे साधारणतया आज्ञाकारी, साफ़-सुथरे और सुशील बन जाते हैं। खेल और खिलौनों के स्थान पर उनकी रुचि स्कूल के कार्य में, वर्णों के शुद्धाकार, अक्षरों की बनावट, गणना और रेखा-चित्र आदि की ओर परिवर्तित हो जाती है। वर्णों को जोड़ने की क्रिया, उनकी आकृति की सुव्यवस्था और

एक सम अक्षर बनाने का प्रयत्न तथा इन सब छोटी-छोटी क्रियाओं में सादृश्यता प्राप्त करने के पीछे वही प्रवृत्तियाँ छिपी होती हैं—जो उसे मिट्टी के घर तथा गुड्डे गुड्डी के खेलों की ओर प्रेरित करती थीं। बच्ची के लिए सुन्दर और सुव्यवस्थित कापी वही चिह्नात्मक महत्ता रखती है जो पहले घरों और घरौंदों की थी। अक्षर, वर्ण अथवा नम्बर अब माता-पिता, भाई-बहनों, मित्रों तथा मल मूत्र आदि को चिह्नित करने लगते हैं। इसके अतिरिक्त यौन तथा ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों के तीव्र दमन के कारण इस आयु में बच्चों की कल्पना-शक्ति मन्द पड़ने लगती है, जिसका उसके खेलों तथा कार्यों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। फ्रायड के मतानुसार शमनकाल के प्रारम्भ से बच्चों का मानसिक जीवन बहुत प्रतिबन्धित हो जाता है और उनकी बुद्धि भी मन्द पड़ जाती है। यहाँ तक कि बहुत से बालक तो अपना शारीरिक सौन्दर्य तक खो बैठते हैं।

लिबिड़ो के विकास में मुख्यत: दो प्रकार से बाधा पड़ सकती है। पहली अवरोध से—अर्थात् कुछ सैक्स प्रवृत्तियाँ परिपक्व कुमार सैक्स प्रवृत्ति के प्रभाव में न आकर पिछली ही अवस्था पर अवरुद्ध हो जाती हैं। सैक्स प्रवृत्तियों के इन इक्के-दुक्के भागों के पिछली अवस्थाओं में रुके रह जाने को फ्रायड ने 'अवरोध' का नाम दिया है। निष्फलता के दबाव से सैक्स प्रवृत्ति खण्ड हो जाने पर दूसरा भय प्रत्यागमन का हो जाता है। वास्तव में अवरोध और प्रत्यागमन एक ही क्रिया के दो अंग हैं।

फ्रायड लिखते हैं, "हम समझते हैं कि प्रत्येक सैक्स प्रवृत्ति के

इक्के-दुक्के भाग विकास की पिछली अवस्थाओं में रुके रह जाते हैं। यद्यपि उसी समय इसके दूसरे भाग अपने अन्तिम ध्येय को प्राप्त कर लेते हैं।" किसी प्रवृत्ति के अंशों के इस प्रकार विकास की पिछली अवस्थाओं में रुक रह जाने को उन्होंने अवरोध का नाम दिया है। अवरोध की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं: "यदि हम एक जाति के देश-परिवर्तन की कल्पना करें। जो जिस पड़ाव पर ठहरे अपने कुछ दल वहीं छोड़ जाय, तो आगे बढ़ने वालों को जहाँ भी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु का सामना करना पड़ेगा वहीं उन्हें हार कर, भागना पड़ेगा। भागकर वे स्वभावतः उन्हीं पिछले दलों के पास पहुँचेंगे। इसके अतिरिक्त जितने ही अधिक दल वे पीछे छोड़ेंगे, उतना ही आगे बढ़ने वालों के लिए पराजय का भय भी अधिक हो जायगा।" बिल्कुल यही दशा लिबिडो की है। लिबिडो की विकसित अवस्थाओं में, कई बार ऐसी ही शक्तिशाली बाहरी बाधायें आ उपस्थित होती हैं, जो इसे पराजित कर पीछे धकेल देती हैं। ऐसी परिस्थिति में इसके लिए पीछे रुके हुए अंशों के पास जा ठहरने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रह जाता। इस क्रिया को फ्रायड ने प्रत्यागमन का नाम दिया है।

लिबिडो का प्रत्यागमन ही नाना प्रकार के मानसिक विकारों का मूल उत्पादक है। दमन के कारण लिबिडो का प्रत्यागमन स्नायु-रोग तथा विपरीताचरण (Perversions) का उत्पादक होता है। फ्रायड के मतानुसार लिबिडो का लिंग अवस्था से पूर्व-लिंगावस्था में प्रत्यागमन, स्नायु-रोग (Neurosis) का मुख्य कारण

है। मानसिक जीवन की स्वस्थ व अस्वस्थ अवस्थाओं में कोई विशेष रेखायें नहीं खिंची जा सकतीं। स्वस्थ व स्नायु-रोगी—दोनों को ही लिबिड़ो पर प्रतिबन्ध लगाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अन्तर केवल इतना है कि इसमें स्वस्थ, स्नायुरोगियों की अपेक्षा अधिक सफल होते हैं। पहले-पहल फ्रायड ने मुख्य भावान्तरण (Transference Neurosis) पर प्रयोग किये—जिसमें आबसैशनल न्यूरोसिस (Obsessional Neurosis) कनवर्शन हिस्टिरिया (Conversion Hysteria) और एन्ग्ज़ायटी हिस्टिरिया (Anxiety Hysteria) सम्मिलित हैं। इन सब का मुख्य कारण अहम्भाव और इड़ का परस्पर संघर्ष है।

इन रोगों का सर्वसाधारण कारण अभाव होता है। अभाव के कारण विकसित लिबिड़ों का निष्फल होकर प्रत्यागमन हो जाता है और वह पूर्व-लिंगावस्था पर केन्द्रित हो जाती है। पूर्व-लिंगावस्था पर केन्द्रित लिबिड़ो, अपनी अविकसित अवस्था की अशिष्ट इच्छाओं की पूर्ति के लिए संघर्ष करती है, परन्तु विकसित अहम्भाव उसके मार्ग में बाधा पहुँचाता है—और यही इन दोनों के परस्पर संघर्ष का मुख्य कारण है, जिससे लिबिड़ो की अचेतन प्रवृत्तियाँ चिह्नों के रूप में व्यक्त होती हैं।

फ्रायड के मतानुसार लिबिड़ो का अपूर्ण तुष्टि के कारण अस्वस्थ हो जाना ही आवश्यक नहीं बल्कि मनुष्य इससे बच भी सकता है। अहम्भाव द्वारा दमन की गई लिबिड़ो सीधी अवरोधों पर ही नहीं पहुँच जाती बल्कि पहले-पहल वह आधार भूतों की कल्पनाओं पर

पहुँचती है, फिर वे कल्पनायें लिबिड़ो की शक्ति से परिपूर्ण हो सजीव हो उठती हैं। लिबिड़ो का इस प्रकार कल्पनाओं की ओर प्रत्यागमन चिह्नात्मक अवस्था और स्वस्थ जीवन की तटस्थावस्था है जिसे सी० डी० जुंग ने अन्तर्मुखीकरण का नाम दिया है। अन्तर्मुखीकृत व्यक्ति स्नायुरोगी नहीं होता परन्तु उसकी मानसिक अवस्था बहुत दुर्बल होती है, जिससे किसी समय भी उसके स्नायुरोग से ग्रस्त होने की सम्भावना रहती है। इन कल्पनाओं से यथार्थता पर भी लौटने का पथ है—और वह है कला। कलाकार की मनोवृत्ति भी अन्तर्मुखीकृत होती है—और वह स्नायुरोग के बहुत निकट होता है। परन्तु वह अपनी कल्पनाओं को सर्वप्रिय रूप देकर बाहर निकालने का रास्ता ढूँढ लेता है।

भावान्तरण न्यूरोसिस से भी अधिक शोचनीय मानसिक रोगों के समुदाय को साइकोसिस (Psychosis) कहते हैं, जिसमें डिमैन्शिया प्रिकोक्स, (Dimensia Precox) मैलनकोलिया, (Melancholia) और पैरानोइया (Paranoia) सम्मिलित हैं। फ्रायड अभी तक भावान्तरण न्यूरोसिस पर ही प्रयोग कर रहे थे जबकि एक बार उन्हें कार्ल इब्राहम ने बताया कि 'डिमैन्शिया प्रिकोक्स' में लिबिड़ो का विषयों से बहुत कम लगाव होता है। जिस पर फ्रायड ने पूछा "परन्तु प्रश्न उठता है कि यदि डिमैन्शिया प्रिकोक्स के रोगियों में लिबिड़ो का लगाव विषयों से नहीं होता, तो वह कहाँ जाता है?" इब्राहम ने निश्शंक हो कहा, "वह अहम्भाव पर

केन्द्रित हो जाती है और उसका यह प्रतिक्रमण ही, इस रोग में आत्म महत्ता के भ्रमों का उत्पादक है।"

इन रोगों में मनुष्य का अहम्भाव खण्ड-खण्ड हो जाता है और रोगी का बाहरी जगत से पूर्णतया-सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है। निष्फलता के कारण लिबिड़ो प्रारम्भिक अवस्थाओं में चली जाती है कि रोगी की मानसिक दशा असहायावस्था की चरम सीमा पर पहुँच जाती है, जिससे वह प्रारम्भिक, अपरिपक्व तथा असभ्य कल्पनाओं में उलझ जाता है।

बाहरी जगत से लिबिड़ों का प्रतिक्रमण हो अहम्भाव पर केन्द्रित होने की क्रिया को नर्सिसवाद (Narcissism) का नाम दिया गया है। यह शब्द नार्सिसज़ की विख्यात कहावत से लिया गया है। हैवलाक एलिस ने भी इस शब्द का ऐसे ही व्यक्तियों के लिए प्रयोग किया है, जो अपने शरीर से उतना ही लगाव रखते हैं कि जैसे बाहरी जगत में उन्हें किसी कामोत्पादक विषय से रखना चाहिये।

फ्रायड कहते हैं, "सम्भवतः नार्सिसवाद ही जीवन की प्रारम्भिक अवस्था है जिसमें से बाद में विषय-प्रेम का उद्भव होता है। और उसमें यह आवश्यक नहीं कि नार्सिसवाद का पूर्णतया लोप ही हो जाय।" इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने पैराफ्रिनिक, प्रेम घटनाओं, बच्चों तथा असभ्य लोगों पर प्रयोग की गणना की। पैरानोइया में रोगी आत्म-महत्ता तथा आत्म-यन्त्रणा के भ्रमों से ग्रस्त होता है—पैरानोइया और भावान्तरण न्यूरोसिस में यही मुख्य अन्तर है कि पैरानोइया के रोगियों में जो लिबिड़ो निष्फलता के

कारण मुक्त होती है वह काल्पनिक विषयों से सम्बन्धित न हो, अहम्भाव पर केन्द्रित हो जाती है। पैरानोइया के रोगी गपोड़ेबाज़ होते हैं और वे बाहरी जगत से अपनी रुचियाँ संकुचित कर लेते हैं।

देखा जाता है कि प्राय: शारीरिक रोगों में भी रोगी की बाहरी जगत की ओर रुचि कम हो जाती है। इसी प्रकार निद्रा में भी बाहरी जगत की ओर रुचि का अभाव हो जाता है। शिशु के काम-तुष्टि के साधन भी जीवन-पुष्टि के लिए दूध पीने की क्रिया से ही सम्बन्धित होते हैं। इसी प्रकार लोग अपने प्रेम पात्र के गुणों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखते हैं जबकि उसके अवगुणों की ओर उनका ध्यान तक नहीं जाता। जिससे पता चलता है कि वे अपने शैशव के प्रारम्भिक नार्सिसवाद को प्रेम पात्र पर केन्द्रित कर देते हैं। फ्रायड का कथन है कि वात्सल्य प्रेम इतना मर्मभेदी होते हुए भी बालतुल्य होता है। वात्सल्य नार्सिसवाद का ही पुनर्जन्म है। संस्कृत की सुप्रसिद्ध उक्ति भी इसी ओर संकेत करती है, "आत्मा वै जायते पुत्र:।" विषय-प्रेम रूप में परिवर्तित हो जाने पर भी इसकी प्रारम्भिक प्रकृति लुप्त नहीं होती।

संक्षेप में लिबिड़ो का विकास इस प्रकार लिखा जा सकता है :

१. यदि लिबिड़ो का बाह्यकरण हो, तो वह विषय प्रेम की ओर जाती है—जो परिपक्व हो अथवा अपरिपक्व।
२. यदि लिबिड़ो का अन्तरीकरण हो, तो अहम्भाव पर केन्द्रित हो जाती है।
३. यदि नीचे जाय, तो अचेतन मन में समा जाती है।

४. यदि काम-रहित होकर व्यक्त हो, तो उसे सुसंस्कार कहा जाता है।

मूल प्रवृत्तियाँ:—पहले-पहल फ्रायड ने केवल काम-प्रवृत्तियों की ही कल्पना की और उनका विचार था कि अन्य समस्त मानसिक प्रक्रियाओं का इसी मूल प्रवृत्ति से प्रादुर्भाव हुआ है। फ्रायड ने काम शब्द का प्रयोग बहुत विशाल अर्थों में किया है। परन्तु बाद में शैल शाक (Shell shock) तथा अन्य युद्ध के स्नायुरोगियों का निरीक्षण करने पर वे इस परिणाम पर पहुँचे कि काम-प्रवृत्ति की नाई एक अन्य उतनी ही प्रबल प्रवृत्ति है, जिसे उन्होंने 'मृत्यु-प्रवृत्ति' का नाम दिया। उन्होंने देखा कि इन रोगियों में अपनी व्यथा को स्वप्नों, कल्पनाओं अथवा चिह्नों के रूप में बारम्बार दोहराने की अनिवार्य मनोवृत्ति है। मानव इतिहास के भीषण कांड, युद्ध, उपद्रव, धार्मिक बलिदान और आत्म-यन्त्रणा, क्षोभ व आत्म-हत्याओं आदि के प्रमाणों ने फ्रायड के इस मत की पुष्टि की। साधारण स्नायुरोगियों में स्वयं को पीड़ा पहुँचाने, अपना मज़ाक स्वयं उड़ाने व आत्महीनता की वृत्ति होती है। साइकोटिक (Psychotic) तो आत्म-यन्त्रणा की चरम सीमा तक पहुँच जाते हैं—यहाँ तक कि कई बार वे आत्म-हत्या तक कर बैठते हैं। इसके अतिरिक्त संसार के सभी देशों के कवियों ने मृत्यु के गुण गाये हैं। साधु-सन्यासी निर्वाण-प्राप्ति के लिए निरन्तर तप-साधना करते रहे हैं।

दिनचर्या के इन छोटे-बड़े प्रमाणों से 'मृत्यु-प्रवृत्ति' के विषय

में फ्रायड का मत अधिकाधिक सुदृढ़ होता चला गया। इस प्रवृत्ति की शारीरिक सत्ता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने मटैबोलिज्म (Metabolism) की कैटाबोलिक (Catabolic) प्रक्रियाओं की ओर इंगित किया हैं। उन्होंने मूलप्रवृत्तियों की परिभाषा चेतन द्रव्य में एक ऐसी परम्पराजात प्रवृत्ति के रूप में दी है जो उसे सर्वदा उसकी प्रारम्भिक स्थिति को बार-बार दोहराने के लिए बाधित करती है। उन्होंने कहा कि क्योंकि मानव में प्रारम्भिक अवस्थाओं को दोहराने की अनिवार्य प्रवृत्ति है जड़, चेतन द्रव्य से अर्थात् जीवन-विकास से भी प्राचीनतर है, अत: चेतन में जड़ अवस्था को दोहराने की प्रवृत्ति भी अवश्यमेव होगी। क्योंकि जीवन से जीवन न होने की अवस्था प्राचीनतर है, इसलिए जीवन में एक ऐसी प्रवृत्ति भी अवश्य होगी, जो इसे जीवन न होने की—अर्थात् मृत्यु की—अवस्था को बारम्बार दोहराने के लिए बाधित करती हो। विषय का नाश, पराजय करना तथा उसका अस्तित्व मिटाकर उस पर विजय पाना मृत्यु-प्रवृत्ति का मुख्य उद्देश्य है। यह कार्यरूप में प्रकट हो सकता है अथवा कल्पना रूप में। जीवन-प्रवृत्तियाँ मृत्यु-प्रवृत्ति का विरोध करती हैं और इनका यह परस्पर निरन्तर संघर्ष—जीवन है। जीवन-प्रवृत्ति को ही फ्रायड ने काम- प्रवृत्ति का नाम दिया है।

BIBLIOGRAPHY

1. The world as I see it—*Einstein.*
2. The glimpses of the great.
3. Character and the Unconscious.
4. Thirty years with Freud—*T. Reik.*
5. The mind at mischief—*Sadler.*
6. Freud and Marx—*R. Osborn.*
7. A general selection from the works of Sigmund Freud—*John Rickman.*
8. Obituary notice—British Journal of medical Psy.—30th Vol. From 1939 to 1940 —*J. C. Flugal.*
9. Freud on Literature, Indian Journal of Psy. *M. V. Amrith.*
10. Obituary notice—Indian Journal of Psy. —*Freud number* 1940.
11. Super ego—*Narayana Menon.*
12. Freud's position in the History of Modern Culture Psychoanalytic Review, Vol. 28-1941 —*Thomas Mann.*
13. The Man Moses and the man Freud—Psychoana-lytic Review Vol. 28-1941—*Hans Sacks.*

14. The Freudian concept of Instincts (Abstracts from Imago in Psychoanalytic Review Vo. 26-1939—*Landmark J.*
15. Guilt and Inferiority feelings as Creater of Religious experience—in Psychoanalytic Review Vol. 16—1929—*Theodore Schroeder.*
16. The Dreams Freud Dreamed—Psychoanalytic Review Vol. 28—1941—*Immanual Velikovsky.*
17. Determinison—Psycho. Review—Oct. 1919.
18. Critique of the Death Instinct—Psychoanalytic Review Vol. 26-1939
19. Freud and the Future Vol. 26—1939).
20. The Range of Freud's work Vol. 26—1939.
21. Freud's Death Instinct and Ranks theory of Liludo Psycho-analytic Review—Vol. 13-1929
22. Defense of Psychoanalysis—abstracted in Psychoanalytic Review Oct. 1928.
23. Introductory Lectures—*Freud.*
24. The New Introductory Lectures—*Freud.*
25. Interpretation of Dreams—*Freud.*
26. Psycho-pathology of everyday Life—*Freud.*
27. Totem and Taboo—*Freud.*
28. Three contributions to the throry of sex—*Freud.*
29. History of the Psycho-analytic movement—*Freud.*
30. Autobiography—*Freud.*

31. Collected papers—*Freud.*
32. Birth Trauma—*Otto Rank.*
33. Intellectual growth of young children *Susan Isaacs.*
34. On the Bringing up of children—Psycho-analyests—*Five.*
35. Psycho-analysis of children—*Maclanie Klein.*
36. Psychology of Religion—*Cyril Flower.*
37. Magic and Religion—*J. G. Frazer.*
38. Psycho-analysis—*Edward Glover.*
39. Dream Interpretation—*Samual Low.*
40. Civilization of its discontents—*Freud.*
41. Future of an illusion—*Freud.*
42. Moses and Monotheism—*Freud.*
43. The Developement of the sexual Impulse —*R. E. Money Kyrl.*
44. Ego and the Id—*Freud.*
45. The year book of Psycho-analysis.
46. What is Psycho-analysis—*Earnest Jones.*